संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित विरोधमूलक अलङ्कारों
का
आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

पर्यवेक्षक
डॉ० हरिदत्त शर्मा
रीडर
संस्कृत विभाग

अनुसन्धात्री
कुमकुम यादव
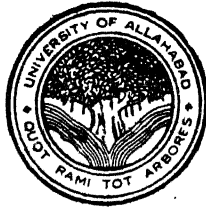
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९३ ई०

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

संस्कृत-साहित्य अनन्त सौन्दर्य का सागर है और उस सौन्दर्य का अन्वेषण करने वाला शास्त्र साहित्यशास्त्र है। काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले धर्म अलङ्कारों का अध्ययन एवं विश्लेषण भारतीय काव्यशास्त्र में विशेष रूप से हुआ है। काव्यशास्त्र में विभिन्न अलङ्कारक तत्वों के साथ-साथ अलङ्कारों को विशेष महत्व प्रदान करते हुए उसकी भी उपादेयता स्वीकार की गयी। अलङ्कार के अभाव में काव्यत्व की कल्पना ही असङ्गत मानी गयी। काव्य में इतना अधिक चमत्कार उत्पन्न करने वाले इन अलङ्कारों के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक ही है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षा में काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् काव्यशास्त्र का और अधिक अध्ययन एवं मन्थन करने की इच्छा से प्रेरित होकर मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय तथा गंगानाथ झा अनुसन्धान संस्थान, इलाहाबाद जाकर काव्यशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन किया और तदनुरूप मैंने शोध-कार्य करना प्रारम्भ किया। उसी के परिणामस्वरूप आज पूज्य गुरुवर्य डॉ0 हरिदत्त शर्मा जी के कुशल निर्देशन में "संस्कृत-काव्यशास्त्र में निरूपित विरोधमूलक अलङ्कारों का आलोचनात्मक अध्ययन" शीर्षक यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है।

परमादरणीय पूज्य गुरुवर्य डॉ0 हरिदत्त शर्मा रीडर, संस्कृत विभाग, जो अपनी विद्वता के लिए तो प्रसिद्ध हैं ही, साथ ही साथ सरस भाषी भी है, एवं दार्शनिक चिन्तनयुक्त कवित्व के लिए देश एवं विदेशों में भी जिनका नाम है, उनके प्रति शब्दों द्वारा तो आभार व्यक्त नहीं किया जा सकता, लेकिन हृदय से आभारी हूँ। मैं संस्कृतविभागाध्यक्ष मनीषिमूर्धन्य प्रोफेसर सुरेश चन्द्र पाण्डेय के प्रति भी कृतज्ञ हूँ।

सभी पूज्य गुरूजनों के अतिरिक्त उन विद्वान् लेखकों की भी मैं आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों के अनुशीलन से मुझे इस शोध-प्रबन्ध में सहायता मिली है।

मैं अपने परमपूज्य पिता श्री भोलानाथ यादव एवं वात्सल्यमयी माँ श्रीमती कमला देवी यादव के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ जिनके स्नेहिल स्वभाव की छत्रछाया में सर्वविध यथोचित सहयोग पाकर मैं इसे पूरा कर सकी हूँ। अपने इस शोध प्रबन्ध के लेखनकाल मे मेरे सामने अनेक कठिनाइयाँ, विघ्न-बाधाएँ आयी, वैसे तो कुछ न कुछ बाधाएँ तो सभी के सामने आती हैं लेकिन मेरे सामने जितनी बाधाएं आयी, उनको शब्दों द्वारा व्यक्त कर पाना अत्यन्त कठिन है। कई बार तो मुझे एकदम निराश भी होना पड़ा। यह तो मेरे माता-पिता एवं पूज्य गुरू का आशीर्वाद था, जिन्होंने मेरे जीवन के इन कठिन क्षणों में भी मुझे अपने अपार स्नेहयुक्त सहयोग द्वारा इस कार्य को पूरा कर सकने की शक्ति प्रदान की। इनके प्रति आभार क्या, इनसे तो कभी उऋण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे परमवंदनीय श्वसुर श्री शिव प्रसाद चौधरी जी जिनके शुभाशीर्वचनों के परिणामस्वरूप मैं इस गुरूतर कार्य को कर सकी तथा परमवंदनीया सास श्रीमती विद्यावती चौधरी के प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपने शुभाशीर्वचनों के द्वारा तथा समय-समय पर मुझे इस कार्य को शीघ्र पूरा करने के लिए प्रेरित किया। परमादरणीय श्री मुकेश चौधरी जी के प्रति भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अत्यन्त निराशा के क्षणों में भी यथोचित सहयोग देकर अपने मृदु वचनों द्वारा सदैव मुझे इस कार्य को करने के लिए प्रोत्साहित ही किया। परमश्रद्धेय श्री के0 एल0 यादव जी अधिष्ठाता, कृष्णा कोचिंग इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद, के प्रति भी मैं हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ जिनसे अध्ययन काल से ही

मुझे कुछ न कुछ प्रेरणा मिलती रही है। उन्होंने अपने शुभाशीर्वचनों से अभिषिचत कर अपने प्रोत्साहन युक्त वचनों द्वारा यथोचित सहयोग प्रदान किया जिससे मैं इस कार्य को पूरा कर सकी। इन सभी लोगों के प्रति मैं आभार व्यक्त करते हुए इनकी चिर ऋणी रहूँगी। अपने अन्य पूज्यजनों, परिवार के अन्य सभी सदस्यों का जिनसे मुझे यथासमय किसी न किसी प्रकार का सहयोग एवं शोध प्रबन्ध को पूरा करने की प्रेरणा मिलती रही, उनको भी मैं हृदय से धन्यवाद देते हुए आभार व्यक्त करती हूँ, साथ ही कु0 सरोज मेहरोत्रा, मनोवैज्ञानिक, मनोविज्ञानशाला, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद की भी आभारी हूँ। टङ्कक श्री यज्ञ नारायण जी, जिन्होंने अत्यन्त सावधानी पूर्वक शुद्ध एवं स्पष्ट टङ्कण कार्य किया, को भी मैं धन्यवाद देती हूँ।

अन्ततः मानवीय स्वभाववशात् यत्र-तत्र हुई भूलों के लिए विद्वज्जनों से उस पर ध्यान न देने की अपेक्षा करते हुए उनके भी सहयोग की आकांक्षा करती हूँ।

कुमकुम यादव

कुमकुम यादव

प्रथम अध्याय

अलङ्कार स्वरूप-विवेचन

"अलङ्कार" शब्द का अर्थ

संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल प्रवृत्ति सौन्दर्यान्वेषण की प्रवृत्ति है। प्राय: सभी काव्यशास्त्री आचार्य शब्दार्थमय काव्य में सौन्दर्य का ही अन्वेषण करते आये हैं। संभवत: इसी कारण से दैहिक सौन्दर्यवर्धन के कारणभूत अलङ्कारों के समानान्तर काव्य में भी ये सौन्दर्याधायक तत्त्व अलङ्कार नाम से व्यवहृत हुए। अलङ्कार शब्द का प्रयोग प्राय: दो अर्थों में हुआ है- सौन्दर्य और सौन्दर्य-साधन। दोनों ही अर्थ अलङ्कार शब्द की अलग-अलग व्युत्पत्तियों से उपलब्ध हैं। पहली भाव-व्युत्पत्ति है और दूसरी करण-व्युत्पत्ति। भाव-व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ है-"अलङ्करणम् अलङ्कार:" अथवा "अलङ्कृति: अलङ्कार:" अर्थात् अलङ्करण ही अलङ्कार है। प्रथम रूप में अलं पूर्वक कृ धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय हुआ है और दूसरे रूप में भाव में क्तिन् प्रत्यय हुआ है। इस भाव-व्युत्पत्ति के अतिरिक्त करण-व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ "अलङ्क्रियते अनेन इति अलङ्कार:" अर्थात् जिसके द्वारा शब्द एवं अर्थ का अलङ्करण किया जाय, वही अलङ्कार है। यहाँ "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" सूत्र से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय हुआ है। इन दो व्युत्पत्तियों के आधार पर अलङ्कार शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है- सौंदर्य एवं सौन्दर्याधायक तत्त्व।

आचार्य वामन ने अलङ्कार को सौन्दर्य का अपरपर्याय कहा है तथा अलङ्कारयुक्त काव्य को ग्राह्य एवं अलङ्कार हीन काव्य को अग्राह्य माना है। उनके अनुसार काव्य के वे सभी तत्त्व जो काव्य में शोभा का आधान करते हैं; अलङ्कार के व्यापक अर्थ में उसके अङ्ग हैं। वामन के अनुसार गुण काव्य सौन्दर्य

के हेतु हैं तो अलङ्कार काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले धर्म।[1] उनके मतानुसार अलङ्कार काव्य के शोभाधायक गुण नहीं अपितु काव्य की स्वाभाविक शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म है। इस मतानुसार करण व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ हुआ वह तत्त्व जिससे काव्य अलङ्कृत हो अर्थात् जिससे काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हो। आचार्य दण्डी के मतानुसार काव्य-शोभा के जितने भी निष्पादक धर्म हैं, सब अलङ्कार हैं। उनके अनुसार गुण आदि काव्य-तत्त्व काव्य में सौन्दर्य का आधान करने के कारण अलङ्कार हैं। यहाँ तक कि उन्होंने सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग तथा लक्षण आदि समस्त काव्य-तत्त्वों को भी अलङ्कार माना है।[2]

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया है। उन्होंने वक्रोक्ति (कथन के वैदग्ध्यपूर्ण ढंग) को काव्य का अर्थात् शब्द और अर्थ का अलङ्कार कहा है।[3] जयदेव के मतानुसार अलङ्कारहीन शब्दार्थ को काव्य मानना उष्णतारहित अग्नि की कल्पना करने के समान है। जिस प्रकार अग्नि का अग्नित्व उसकी उष्णता में ही है उसी प्रकार

1- काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ।
-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 3/1/1 तथा 3/1/2

2- यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ।।
- काव्यादर्श 2/67

3- उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।।
-वक्रोक्ति जीवित 1/10

काव्य का काव्यत्व भी उसके [काव्य के] अलङ्कृत होने में ही है। उन्होंने अलङ्कार को काव्य का नित्यधर्म स्वीकार किया।[1] औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का प्राण माना। उनके मतानुसार काव्य के अलङ्कार अपने आप में काव्य सौन्दर्य के हेतु नहीं होते। उचित विन्यास होने पर ही अलङ्कार सच्चे अर्थ में अलङ्कार होते हैं और काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं।[2] रूय्यक प्रणीत अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने गुण को काव्य का नित्यधर्म स्वीकार करते हुए अलङ्कार को काव्य का अनित्य धर्म स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कार काव्य के चारुत्व का हेतुभूत होता है। उन्होंने "अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य" अलङ्कार को भावाभिव्यक्ति का सहजात धर्म होने के कारण काव्य का अन्तरङ्ग धर्म स्वीकार किया है तथा यह भी कहा है कि अलङ्कार की अलङ्कारता बनाये रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि उस अलङ्कार की योजना सदा अंग रूप में रहे, उसकी योजना अंगी रूप में कभी न होने पावे। अवसर देखकर उसका ग्रहण हो और यदि अवसर न हो तो गृहीत का भी परित्याग हो जाना चाहिए। उनकी यह मान्यता है कि अलङ्कार वाच्योपस्कारक होने के कारण काव्य के शरीर हैं [शरीरभूत शब्दार्थ से अविभाज्य रूप से सम्बद्ध है]

1- अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।। चन्द्रलोक 1/8

2- अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा ।
उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।। औचित्यविचारचर्चा 6।

पर कभी वे शरीरी भी बन सकते हैं। अलङ्कार वाच्य हों तो शरीर किन्तु व्यङ्ग्य होने पर ध्वनि का अङ्ग होते हुए भी शरीरी का पद प्राप्त कर लेते है।[1] भोजदेव ने "श्रृंगारप्रकाश" के दशम प्रकाश में स्पष्ट रूप से कहा है- काव्य शरीर के चारुत्व रूप उत्कर्ष की सिद्धि के लिए अलङ्कार" उपकारक है। आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ की कल्पना काव्यपुरुष के शरीर के रूप में की है। उनके मतानुसार रस उसकी आत्मा है और माधुर्य आदि रस के धर्म-काव्य गुणमानव केक शौर्य आदि गुण की तरह उसके गुण हैं। अलङ्कार काव्य-पुरुष के शरीर को-शब्द और अर्थ को- विभूषित करते हैं; अतः वे मानव शरीर के हारादि आभूषण की तरह उसके अलङ्कार हैं। लोक-जीवन में जैसे हार आदि आभूषण धारण करने वाले का शरीर अलङ्कृत होकर लोक-धारणा को प्रभावित करता है और इस प्रकार अलङ्कृत व्यक्ति की आत्मा का उपकार होता है ठीक उसी प्रकार काव्य का शब्दार्थ-रूप शरीर काव्य है के अलङ्कारों से अलङ्कृत होता है। काव्य के अलङ्कारों से काव्य का शब्दार्थ रूप शरीर तो अलङ्कृत होता ही है, साथ ही साथ ये अलङ्कार उसकी आत्मा रस को भी उपकृत करते हैं।[2]

1- शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ध्वन्यालोक 5।

2- उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः । - काव्यप्रकाश 8/67

यहाँ अलङ्कार शब्द के अर्थ के विषय में एक शङ्का हो सकती है यदि करण-व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ काव्य-सौन्दर्य का साधक मान लिया जाय तो काव्य के अन्य जो शोभाधायक तत्त्व है जैसे गुण आदि उनसे काव्यालङ्कार का भेद कैसे किया जायेगा। कुछ आचार्यों ने गुण एवं अलङ्कार को काव्य -सौन्दर्य का समान भाव से साधक मानकर दोनों के विषय विभाग को अवैज्ञानिक मान लिया था। कुछ आचार्यों ने गुण तथा अलङ्कारों में क्या भेद है यह स्पष्ट करने के लिए ही गुण को काव्य-सौन्दर्य का हेतु माना और अलङ्कार को काव्य सौन्दर्य की वृद्धि करने वाला धर्म । भट्टोद्भट ने भी गुणालङ्कारों के भेद को मिथ्या कल्पना माना है। उनके मतानुसार गुण तथा अलङ्कार में कोई भेद नहीं है। लौकिक गुण तथा अलङ्कारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलङ्कारों का शरीरादि के साथ संयोग सम्बन्ध होता है, और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं, अपितु समवाय सम्बन्ध होता है, परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार दोनों की ही समवाय सम्बन्ध से स्थिति होती है। इसलिए काव्य में उनका उपपादन नहीं किया जा सकता है। परन्तु वामन ने गुणालङ्कारों में भेद स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि अलङ्कार काव्य के शोभाधायक गुण नहीं, काव्य की स्वाभाविक शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म हैं। जिस प्रकार लौकिक जीवन में भी युवती के भीतर यदि सौन्दर्यादि गुण पहले से विद्यमान हो तो उन सौन्दर्यादि गुणों के होने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा की वृद्धि कर सकते हैं। यदि उसमें वास्तविक सौन्दर्य न हो तो वास्तविक सौन्दर्य के अभाव में हारादि अलङ्कार उसकी शोभा की वृद्धि नहीं कर सकते। ठीक उसी प्रकार काव्य जगत् में भी माधुर्यादि गुणों के रहने पर ही उपमा और यमक आदि

अलङ्कार उसकी {काव्य की} शोभा की वृद्धि कर सकते हैं। मम्मट आदि परवर्ती आलङ्कारिकों ने इस मत की आलोचना की और बताया कि कहीं कहीं ऐसा भी देखा गया है कि कोई भी काव्य-गुण वहाँ पहले से विद्यमान नहीं है और अलङ्कार शोभावर्धक हो रहे हैं। अत: गुणाहित शोभावर्धक धर्म ही अलङ्कार है- यह कहना साधार एवं सयुक्तिक नहीं है।

काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टिभेद के कारण अलङ्कार के स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टिभेद होना स्वाभाविक था भामह और उद्भट ने काव्य के शब्दार्थ को अलङ्कार्य मानकर उसमें सौन्दर्य का आधान करने वाले सभी तत्त्वों को अलङ्कार कहा। भामह ने काव्य के अलङ्कार को नारी के आभूषण की तरह मानकर कहा था कि जैसे रमणी का सुन्दर मुख भी भूषण के अभाव में सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार अलङ्कारहीन काव्य सुशोभित नहीं होता।[1] भामह नारी के मुख को सुशोभितकरने के लिए आभूषण को जिस प्रकार अनिवार्य मानते थे, उसी प्रकार काव्य को सुशोभित करने के लिए काव्यालङ्कार को आवश्यक मानते थे। कहने का अभिप्राय यह है कि नारी के आभूषण उसके सौन्दर्य की सृष्टि नहीं करते उसके स्वाभाविक सौन्दर्य की वृद्धि ही कर सकते हैं। इसी तरह यदि काव्य के अलङ्कार को नारी के आभूषण की तरह माना जाय तो उसे काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक मात्र मानना होगा। इसके विपरीत कालिदास जैसे रसज्ञ सहज सुन्दर रूप के लिए किसी विशेष आभूषण की आवश्यकता नहीं मानते। उनके मतानुसार तो कोई भी वस्तु

1- न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।

-- काव्यालङ्कार 1,13

चाहे वह सुन्दर हो या असुन्दर, सुन्दर रूप का आभूषण बन जाती है।[1] इसी बात को स्वीकार करते हुये आचार्य भामह ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि आश्रय के सौन्दर्य से असुन्दर वस्तु भी सुन्दर बन जाती है। सुन्दर आँखों में काला अंजन भी सुन्दर लगने लगता है।[2]

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि काव्य के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले आचार्यों ने काव्यालङ्कार के स्वरूप के विषय में भी भिन्न मान्यतायें व्यक्त की है। भामह तथा उद्भट ने काव्य-शोभा के साधक धर्म को अलङ्कार मानकर गुण, रस आदि सभी काव्य तत्त्वों को अलङ्कार की सीमा में समाविष्ट कर लिया। दण्डी ने भी काव्य के शोभावर्धक धर्म को अलङ्कार कहा । वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिको कहने के वैदग्ध्यपूर्ण ढंग को -काव्य का अर्थात् शब्द और अर्थ का अलङ्कार कहा । आचार्य रूय्यक ने भी अभिधान अर्थात् कथन के प्रकार-विशेष को अलङ्कार माना । उन्होंने यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि कवि प्रतिभा से समुद्भूत कथन का प्रकार-विशेष ही अलङ्कार है। आनन्दवर्धन के पूर्व अलङ्कार को काव्य का बाह्य तथा अन्तरङ्ग काव्य-धर्म मानने वाले दो मत प्रचलित थे-- कुछ तो अलङ्कार को काव्य का बाह्य धर्म तथा कुछ अन्तरङ्ग धर्म मानते थे, परन्तु आनन्दवर्धन ने इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित किया। उनके मतानुसार

1- किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।
-अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/17

2- किंचिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ।।
-- काव्यालङ्कार 1,55

वाग्विकल्प अर्थात् कथन के अनूठे ढंग अनन्त हैं और उनके प्रकार ही अलङ्कार कहलाते हैं। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ "काव्यप्रकाश" में काव्य-लक्षण प्रस्तुत करते हुए यह बात तो स्पष्ट रूप से कही कि काव्य में शब्दार्थ का निर्दोषतया तथा गुणयुक्त होना तो आवश्यक है: परन्तु अलङ्कार की काव्य में अनिवार्य स्थिति न मानते हुए यह कहा कि कहीं-कहीं अनलङ्कृत शब्दार्थ भी काव्य होते हैं।[1] वे अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का नित्य और अनिवार्य धर्म नहीं मानते थे। उनके कहने का अभिप्राय यह था कि अलङ्काररहित होने पर भी गुण के सद्भाव तथा दोष के अभाव में शब्दार्थ सुन्दर काव्य बन सकते हैं तथा अलङ्कार भी यदि रस के सहायक बनकर आवें तो काव्य का सौन्दर्य और बढ़ जाता है। अत: गुण रस के अपरिहार्य धर्म हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन ने जो काव्य में अलङ्कारों की स्थिति कुन्डलादि के समान वाह्य और अनित्य मानी है उसी का अनुसरण आचार्य मम्मट, राजशेखर, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत अलङ्कार लक्षण में दृष्टिगोचर होता है। भरत के पश्चात् तथा आनन्दवर्धन से पूर्व लगभग समस्त काव्य शास्त्री आचार्यों ने अलङ्कारों को काव्य के अङ्गरूप में ही प्रतिष्ठित किया है। जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि आचार्यों ने भी इसी मत का समर्थन किया।

1- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन: क्वापि ।
—काव्यप्रकाश -1/4

अब निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में करण-व्युत्पत्ति से जो अलङ्कार शब्द का अर्थ निकलता है कि अलङ्कार काव्य को अलङ्कृत बनाने का साधन है ठीक ही है, परन्तु यदि अलङ्कार को काव्य को अलङ्कृत करने का साधन मान लिया जाय तो हमारे समक्ष यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि वे अलङ्कार जिन्हें हम काव्य को अलङ्कार बनाने का साधन मानते हैं वे काव्य में अलङ्कृत किसे करते हैं?

अलङ्कार और अलङ्कार्य-

अलङ्कार काव्य में किसे अलङ्कृत करते हैं यह जानने से पूर्व हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में अलङ्कार क्या है? और अलङ्कार्य क्या है? जो अन्य को सुशोभित करे उसे "अलङ्कार" कहते हैं और जो अन्य के द्वारा सुशोभित हो उसे अलङ्कार्य कहा जाता है। उदाहरणार्थ- कटक, कुंडल आदि आभूषण अन्यों को विभूषित करते हैं इस कारण वे अलङ्कार कहे जायेंगे और मनुष्य का शरीर जो कि इन आभूषणों के द्वारा अलङ्कृत होता है इसलिए मनुष्य के शरीर को अलङ्कार्य कहा जाएगा। अतः अलङ्कार्य का अलङ्करण अलङ्कार के द्वारा होता है। इसी प्रकार काव्य में जब उपमादि अलङ्कार शब्दार्थ को विभूषित करे तो उन्हें अलङ्कार की संज्ञा प्राप्त होगी, परन्तु जब व्यङ्ग्यार्थ में उसकी स्पष्टतः प्रतीति होगी तो अलङ्कार्य की सीमा में आ जायेंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यङ्ग्य अर्थ में प्रधान रूप से अलङ्कारों की प्रतीति होने से वे अलङ्कार अलङ्कार्य हो जाते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि वास्तव में जो अलङ्कार है वह अलङ्कार्य कैसे हो सकता है? अलङ्कार का तो यह गुण है कि वह दूसरे को सुशोभित करे। ऐसी स्थिति में वे अलङ्कार गौड़ होते हैं,

परन्तु व्यङ्‌ग्यार्थ में प्रधान होने के कारण उन अलङ्‌कारों का यह धर्म नहीं रह सकेगा क्योंकि यदि व्यंग्यार्थ में उन्हें गौण माना जायेगा तो उनमें ध्वनित्व का अभाव रहेगा और तब ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि एक ही पदार्थ को किस प्रकार प्रधान और अप्रधान दोनों माना जाय। काव्य में ध्वनि या व्यङ्‌ग्य अर्थ की सदा प्रधानता होती है और जो प्रधान होता है वही "अलङ्‌कार्य" होता है। वही "अलङ्‌कार्य" होता है। इसलिए जिन उदाहरणों में अलङ्‌कार व्यङ्‌ग्य है वहाँ उनकी प्रधानता होने से वे "अलङ्‌कार" नहीं अपितु "अलङ्‌कार्य" होने चाहिए। फिर उनको "अलङ्‌कार" कैसे कहा जा सकता है? इसी शंका का समाधान काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने ब्राह्मण- श्रमण न्याय के द्वारा किया है। उनका कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि यह ठीक है कि व्यङ्‌ग्य अर्थ "अलङ्‌कार"-रूप नहीं होता अपितु वह सदा "अलङ्‌कार्य" ही होता है फिर भी उसको "ब्राह्मण-श्रमण न्याय" से अथवा "भूतपूर्व-न्याय" से अलङ्‌कार कहा जा सकता है। जैसे कोई व्यक्ति पहले ब्राह्मण रहा हो, पीछे वह "श्रमण" (बौद्ध सन्यासी) हो जाय तो उस रूप में भी उसमें ब्राह्मणत्व का अभाव होने पर भी वह पहले कभी ब्राह्मण था इसलिए उस भिक्षु-वेश में भी अर्थात् चोटी यज्ञोपवीत के बिना भी उसे ब्राह्मण कहा जाता है। इसी प्रकार जब "अलङ्‌कार" व्यङ्‌ग्य हो जाने के कारण प्रधान या "अलङ्‌कार्य" हो जाता है तब भी "ब्राह्मण-श्रमण-न्याय" से या भूतपूर्व गति से उसको "अलङ्‌कार" कहा जा सकता है।[1] इस प्रकार "अलङ्‌कार्य" का अर्थ वर्ण्य वस्तु

1- अलङ्‌कारस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्‌कारता ।

-काव्यप्रकाश, 4/39

या वर्ण्य विषय माना जायेगा और अलङ्कार विषय वस्तु को विभूषित करने वाले तत्त्व को कहेंगे।

भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ को अलङ्कार्य माना है। भामह ने काव्य के शब्दार्थ को अलङ्कार्य मानकर उनमें सौन्दर्य का आधान करने वाले सभी तत्त्वों को अलङ्कार कहा है। उद्भट ने अलङ्कार को "वाचाम् अलङ्कार:" वाक् अर्थात् शब्द तथा अर्थ को अलङ्कार्य स्वीकार किया है। परन्तु रीतिवादी आचार्य वामन ने व्यापक अर्थ में अलङ्कार को सौन्दर्य का पर्याय माना परन्तु विशिष्ट अर्थ में उपमा आदि के लिए अलङ्कार शब्द का प्रयोग माना है। वास्तव में यदि यह कहा जाय कि वह काव्य सौन्दर्य अलङ्कार भी है और अलङ्कार्य भी तो यह कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि सौन्दर्य से पृथक् काव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती । वामन के मतानुसार रीति या विशेष प्रकार की पद-संघटना काव्य-सर्वस्व है।[1] वही अलङ्कार्य है। उनके मतानुसार उसके सौन्दर्य के हेतु गुण होते हैं और रीति में गुण से जो सौन्दर्य उद्भूत होता है उस सौन्दर्य की वृद्धि अलङ्कार से होती है। वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने अलङ्कार और अलङ्कार्य में क्या भेद है इस प्रश्न पर बहुत ही तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुये वक्रोक्ति या चमत्कारपूर्ण कथन शैली को अलङ्कार मानकर शब्दार्थ को अलङ्कार्य स्वीकार किया। यही कारण है कि उन्होंने स्वभावोक्ति को अलङ्कार न मानकर अलङ्कार्य माना।[2]

1- रीतिरात्मा काव्यस्य ।काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 1,2,6

2- अलङ्कारकृता" येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृति: ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ।।
- वक्रोक्ति जीवित-1/11

उनके मतानुसार स्वभावोक्ति अर्थात् प्रकृत शब्दार्थ अलङ्•कृत होने पर ही काव्य की कोटि में आते हैं। अत: वक्रोक्ति से अलङ्•कृत होने के कारण वे ही अलङ्•कार्य हैं और वक्रोक्ति उनका अलङ्•करण करती है इस कारण वह वक्रोक्ति अलङ्•कार है। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि वस्तुत: सालङ्•कारउक्ति ही काव्य है। उसमें अलङ्•कार और अलङ्•कार्य की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता नहीं। उनके मतानुसार केवल काव्य की उत्पत्ति के लिए- उसके स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही अलङ्•कार और अलङ्•कार्य की अलग अलग कल्पना करके उनका विवेचन किया जाता है। उनके मतानुसार अलङ्•कृत वाक्य ही काव्य होता है न कि काव्य में अलङ्•कार का योग होता है। वस्तुत: वक्रोक्ति एक अलङ्•कृति है और काव्य उसका अलङ्•कार्य अलङ्•कृति और अलङ्•कार्य जो कि वास्तव में अपृथक है--केवल समझाने के लिए ही उन्हे पृथक् करके उनका विवेचन किया जाता है। काव्य तो स्वयं ही सालङ्•कार होता है अलङ्•कार को उसमें ऊपर से या बाद में नहीं लाया जा सकता।[1]

आनन्दवर्धन ने अलङ्•कारों को गुण और रीति के साथ काव्य शब्दार्थ के चारूत्व का हेतु मात्र माना तथा उसकी स्थिति रस ध्वनि से आश्रित मानी। काव्यशास्त्र में रस और ध्वनि प्रस्थान की स्थापना हो जाने पर अलङ्•कार और अलङ्•कार्य के सम्बन्ध में मौलिक दृष्टिभेद आया। रस या ध्वनि को काव्य की

1- अलङ्•तिरलङ्•कार्यान्य पोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥

-- वक्रोक्तिजीवित 1/6

आत्मा के रूप में स्वीकृति मिल जाने के कारण जो शरीरभूत शब्दार्थ का महत्व था वह गौण पड़ गया। रस-ध्वनि सम्प्रदाय में काव्य के आत्मभूत रस या ध्वनि को ही विशेष महत्व प्रदान करते हुए अलङ्कार्य माना गया। उनके मतानुसार अलङ्कार का सम्बन्ध प्रमुख रूप से शब्द और अर्थ से ही रहता है परन्तु केवल शब्दार्थ मात्र के उपस्कार में उसकी सार्थकता नहीं है उसकी सार्थकता तो शब्दार्थ का उपस्कार कर उनके माध्यम से काव्य के अङ्गी रस या ध्वनि के उपकार में ही है। वे ऐसा मानते थे कि यदि अङ्गी न हो तो अलङ्कार से अङ्ग का भी उपस्कार नहीं हो सकता। यदि मृत व्यक्ति के निष्प्राण शव को चाहे कितने भी मूल्यवान रत्नाभरणों से लाद दिया जाय फिर भी उसमें सुन्दरता नहीं आ सकती।[1] ठीक उसी प्रकार यदि काव्य भावहीन है तो भावहीन काव्य अलङ्कार के चमत्कार से युक्त होने पर भी निष्प्राण होता है, निस्तेज होता है। अतः अलङ्कार्य रस या ध्वनि ही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ आचार्यों ने तो अलङ्कार और अलङ्कार्य में परस्पर भेद माना, परन्तु कुछ ने इसे स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया। कुछ आचार्य अलङ्कार्य को काव्य का शोभाधायक धर्म मानते हैं और कुछ स्वरूपाधायक धर्म मानते हैं। यदि अलङ्कार्य को शोभाधायक धर्म माना जाय तब तो अलङ्कार और अलङ्कार्य में पार्थक्य मानना ही पड़ेगा, परन्तु यदि इसे काव्य का स्वरूपाधायक धर्म मानते हैं तो दोनों का अपृथक संबंध ही स्वीकार करना पड़ेगा। इस विषय में हमें कुन्तक

1- तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात् ।
-ध्वन्यालो,पृ0 75 सं0

का मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि अलङ्कार और अलङ्कार्य में तात्त्विक रूप से तो भेद नहीं है; परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनमें आपस में भेद मानना ही पड़ेगा क्योंकि व्यावहारिक रूप से बिना भेद किये इसे समझाया भी नहीं जा सकता। क्रोचे की भी यही मान्यता थी कि काव्य का अर्थ एक और अखण्ड होता है, उसमें अलङ्कार और अलङ्कार्य आदि अङ्गों का विभाजन नहीं हो सकता। उनकी यह मान्यता उचित ही है कि काव्य एक सम्पूर्ण अभिव्यंजना है और अलङ्कार उस अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण से अविभाज्य साधन है। उन्होंने अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेद को स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया--

"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression, Externally ? In that case it must always remain separate. Internally ? In that case either it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole".

अर्थात् अलङ्कार उक्ति में ऊपर से जोड़ा जा सकता है या भीतर से? यदि ऊपर से जोड़ा गया, तो वह मूल उक्ति से पृथक् ही बना रहा और यदि भीतर से जोड़ा गया, तो दो स्थितियाँ होंगी-- एक अनुरूप न पड़ने से बाधक की और दूसरी अनुरूप पड़ने से साधक की । यदि भीतरी योजना अनुरूप है, तब तो वह उक्ति का ही अभिन्न अंग है-- वह एक अखंड उक्ति ही है-- उसमें अलङ्कार एवं अलङ्कार्य का भेद कैसा?

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में सभी काव्य तत्व एक अखण्ड काव्य-सौन्दर्य के अन्तरङ्ग सहायक होते हैं। अलङ्कार भी काव्यानन्द की अनुभूति में बाहर से सहायक नहीं होता बल्कि वह भी काव्य सौन्दर्य का अन्तरङ्ग सहायक ही है। अलङ्कार और अलङ्कार्य की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, केवल काव्य-स्वरूप के विश्लेषण के लिए ही दोनों को अर्थात् अलङ्कार और अलङ्कार्य को अलग अलग कल्पित करके उनका विवेचन किया जाता है। अलङ्कार उक्ति के विभिन्न प्रकार ही है या यह कहा जाय कि कथन की विविध विच्छित्तियाँ ही अलङ्कार हैं तो अतिशयोक्ति न होगी। अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद भी तात्त्विक नहीं व्यावहारिक ही है। अतः इन दोनों में भेद मानकर दोनों के बीच कोई स्थिर विभाजक रेखा खींचना उपयुक्त नही है।

काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में अलङ्कार

काव्य कवि की अनुभूति की व्यंजना है । कवि की जो अखण्ड आत्मानुभूति है वह ही काव्य में नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है। कवि अपनी इस अनुभूति को व्यक्त करने के क्रम में अपनी उक्तियों को अलङ्कृत बना कर प्रस्तुत करता है। वह कभी रूप-साम्य, कभी धर्म-साम्य और कभी प्रभाव-साम्य के आधार पर दृश्य बिम्ब उभार कर सौन्दर्य व्यंजित करता है। इसीलिए काव्य को कवि कर्म भी कहा गया है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है, कि वह अपनी उक्ति को अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक बनाकर प्रस्तुत करना चाहता है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के अलङ्करणों से, साज-सज्जा से दूसरों की धारणा को प्रभावित करने की प्रवृत्ति जन-सामान्य में पायी जाती है, उसी प्रकार काव्य जगत् में भी कवि अपनी अनुभूतियों कोअपनी उक्तियों को अधिक से अधिक चमत्कारपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाकर व्यक्त करना चाहता है, वह उसमें कुछ न कुछ नवीनता लाना चाहता है। कवि अपने प्रतिपाद्य अर्थ को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कहीं अलङ्कार की योजना करता है तथा कहीं-कहीं जब वह किसी प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करना चाहता है तो जिस समय वह प्रस्तुत वस्तु का वर्णन करता है तो प्रस्तुत वस्तु के वर्णन-क्रम में उसके साथ अतिशय सादृश्य आदि के कारण अनायास ही कोई अप्रस्तुत वस्तु उसके सामने आ जाता है और वह जो अप्रस्तुत वस्तु है प्रस्तुत वस्तु से मिलकर अलङ्कार का विधान कर देती है।

प्राचीन आलंकारिकों भामह, दण्डी, वामन आदि ने समस्त काव्य-सौन्दर्य को अलङ्कार के ही अन्तर्गत रखते हुए अलङ्कार को काव्य शोभा का कारण अथवा अपर पर्याय माना । उनके मतानुसार काव्य का जो प्रस्तुत पक्ष है वह

अरमणीय या चमत्कार-रहित होने पर काव्य न होकर केवल वार्ता मात्र रह जाता है तथा काव्य का यही प्रस्तुत पक्ष यदि रमणीय अथवा चमत्कारपूर्ण होता है तो वह अलङ्कार से अभिन्न हो जाता है। भामह ने भी अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का आवश्यक तत्व माना है। उनके मतानुसार भी अनलङ्कृत या प्रकृत उक्ति वार्ता मात्र होती है।[1] उदाहरणार्थ सूर्य अस्त हो गया है, पक्षिगण अपने अपने नीड़ों को लौट रहे है, इत्यादि को काव्य की संज्ञा नहीं प्रदान की जा सकती, यह तो केवल वार्ता मात्र है। कहने का अभिप्राय यह है कि अलङ्कारवादी प्रस्तुत अर्थ का सर्वथा निषेध नहीं करते, बल्कि उसमें वह यथावत् काव्यत्व की सम्भावना नहीं मानते। उनके मतानुसार किसी भी प्रकार के सौन्दर्य से विशिष्ट होने पर वह अपने समग्र रूप में अलङ्कार बन जाता है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ के दो रूप हैं--

(1) प्रकृत अथवा अनलङ्कृत रूप तथा (2) अलङ्कृत रूप इनमें से शब्द और अर्थ का जो प्रथम अर्थात् प्रकृत अथवा अनलङ्कृत रूप है अकाव्य है तथा द्वितीय जो अलङ्कृत रूप है वह अपने समग्र रूप में ही काव्य है तथा वही अलङ्कार है।

"काव्यालङ्कार" शब्द का अर्थ काव्य-सौन्दर्य होता है। अलङ्कार शब्द काव्य शास्त्र या साहित्य शास्त्र के पर्याय के रूप में भी आता है। अलङ्कार के व्यापक अर्थ में कुछ आचार्यों ने उसे काव्य-सौन्दर्य का पर्याय माना और रस, गुण आदि सभी काव्य-तत्वों को उसमें समाविष्ट कर दिया, किन्तु विशिष्ट अर्थ

1- गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ।।
-काव्यालङ्कार 2/87

में अलङ्कार को शब्द और अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि करने वाला तत्व माना गया। आधुनिक काल में भी अलङ्कार शब्द का व्यवहार शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले तत्व के अर्थ में ही होता है। जिस प्रकार शरीर की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए अलङ्कारों का होना आवश्यक है उसी प्रकार काव्य के लिए भी अलङ्कारों का होना आवश्यक है। "अलङ्कार" शब्द सौन्दर्य अर्थ का बोधन कराने वाले है।

आचार्य दण्डी ने अलङ्कार के व्यापक अर्थ में उसे काव्य-सौन्दर्य का हेतु कहा है। आचार्य वामन ने अलङ्कार को सौन्दर्य का अपर पर्याय कहकर अलङ्कार-युक्त काव्य को ग्राह्य तथा अलङ्कारहीन काव्य को अग्राह्य माना । उनके मतानुसार काव्य के वे सभी तत्व जो काव्य में शोभा का आधान करते हैं अलङ्कार व्यापक अर्थ में उसके अङ्ग हैं वे सौन्दर्य मात्र को अलङ्कार मानते थे। यद्यपि वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए रीति के विधायक गुण को काव्य में विशेष महत्व प्रदान किया तथा समस्त काव्य-सौन्दर्य का हेतु गुण को ही माना है उन्होंने अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करने वाला धर्म माना। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि अलङ्कार सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। यदि अलङ्कार न हों तो अलङ्कार के अभाव में भी गुण से काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है। इतना अवश्य है कि अलङ्कार के रहने से गुण द्वारा उद्भूत काव्य-सौन्दर्य जितना उत्कृष्ट होगा उतना अलङ्कार के अभाव में नहीं। उनके अनुसार गुण काव्य-सौन्दर्य के लिए, काव्य को ग्राह्य बनाने के लिए अनिवार्य हैं; पर अलङ्कार काव्य-सौन्दर्य के लिए अनिवार्य नही, वे काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अपेक्षित होते है। उन्होंने भी रस, ध्वनि आदि को अलङ्कार में अन्तर्भूत माना। परन्तु आचार्य उद्भट ने अलङ्कार को गुठा के समान ही महत्व प्रदान किया।

उनके मतानुसार गुण और अलङ्कार दोनों ही काव्य में समवाय-वृत्ति से सम्बद्ध रहते हैं। अतः, गुण को समवाय-वृत्ति से सम्बद्ध काव्य का अन्तरङ्ग और अलङ्कार को संयोग-वृत्ति से सम्बद्ध काव्य का बहिरङ्ग धर्म मानना समीचीन नहीं है। भामह अलङ्कार को काव्य का अन्तरङ्ग धर्म ही मानते थे, जबकि रीतिवादी आचार्य वामन ने गुण को काव्य का शोभाकारक धर्म कहकर अन्तरङ्ग और अलङ्कार को काव्य का शोभातिशयकारी धर्म कहकर बाह्य धर्म स्वीकार किया। उद्भट की स्पष्ट मान्यता है कि अलङ्कार की काव्य-सौन्दर्य के हेतु है अतः अलङ्कार को काव्य का अन्तरङ्ग धर्म मानना ही अधिक उपयुक्त है। उनके मतानुसार गुण और अलङ्कार में भेद केवल इतना है कि गुण संघटनाश्रित है अर्थात् उनका आश्रय रीति है जबकि अलङ्कार शब्दार्थ पर आश्रित है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि अलङ्कार शब्द तथा अर्थ को सौन्दर्य प्रदान करने वाले नित्य और अन्तरङ्ग धर्म है। उसके अभाव में शब्द तथा अर्थ में सौन्दर्य नहीं आ सकता।

चन्द्रालोककार जयदेव भी काव्य का प्राणभूत जीवनाधायक तत्त्व अलङ्कार को ही मानते है, उन्होंने काव्य-लक्षण में अलङ्कार की अनिवार्य सत्ता मानी है। उनके मतानुसार अलङ्कारविहीन काव्य की कल्पना वैसी ही है जैसे उष्णताविहीन अग्नि की कल्पना। उन्होंने काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट, जो कि अलङ्कारों को धरादि के समान मानते है तथा कहीं-कहीं अलङ्कारहीन शब्दार्थ को भी काव्य मानते हैं--"क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः" इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने उनके इस मत का खण्डन करते हुए स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि यदि वे अलङ्कारहीन शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं तो उन्हें उष्णताविहीन अग्नि की भी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः, जिस प्रकार उष्णता में ही अग्नि का अग्नित्व है उसी प्रकार काव्य

का काव्यत्व भी उसके अलङ्•कृत होने में ही है। उन्होंने अलङ्•ार को काव्य का नित्यधर्म ही स्वीकार किया, जबकि मम्मट ने अलङ्•ार को काव्य का अनित्य धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार वामन की तरह आचार्य मम्मट ने भी अलङ्•ार को काव्य का शोभाधायक धर्म नहीं मानकर उसे काव्य में सौन्दर्य की वृद्धि का ही साधन माना।

इस विषय में हमें औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र की ही मान्यता अधिक उपयुक्त जान पड़ती है जिन्होंने औचित्य को ही काव्य का प्राण माना। औचित्य का अर्थ है उचित का भाव। उनके मतानुसार काव्य के अलङ्•ार अपने आप में काव्य-सौन्दर्य के हेतु नहीं। उचित विन्यास होने पर ही अलङ्•ार सच्चे अर्थ में अलङ्•ार होते है और काव्य की श्री वृद्धि करते हैं। यदि अलङ्•ारों का उचित विन्यास न हो तो अलङ्•ार काव्य-शोभा के साधक न बनकर उसके बाधक ही बन जाते है। उदाहरण के लिए यदि कोई सन्यासी आभूषण पहन ले तो उससे उसकी कान्ति तो बढ़ेगी नहीं, बल्कि अनौचित्य के कारण वे ही आभूषण संन्यासी को हास्य का आलम्बन बना देंगे। यदि कटि की मेखला गले में डाल दी जाय और हार कमर में पहन लिया जाय, तो इससे सौन्दर्य तो बढ़ेगा नहीं, बल्कि बिगड़ ही जायेगा। ठीक इसी प्रकार काव्य में भी सभी काव्य तत्वों की उचित योजना होनी चाहिए। औचित्यपूर्ण अलङ्•ार योजना ही काव्य को सुन्दर बनाती है। केवल अलङ्•ार की नहीं; अपितु सभी काव्य तत्वों की उचित योजना होने पर ही काव्य ग्राह्य होता है।

आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार अलङ्•ार प्रस्तुत के रूप गुण, क्रिया आदि के उत्कर्षसाधन के साथ काव्य के भावया रस का प्रभाव बढ़ाने में सहायक

होते हैं। यही कारण है कि रस-सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो रस-भाव आदि का उपकार करने में ही अलङ्कार योजना की सार्थकता मानी है। यहाँ यह बात कही जा सकती है कि सभी अलङ्कार नियत रूप से रस, भाव आदि का उपकार नहीं करते कहीं कहीं व रस-भाव आदि के साधक होते हैं तथा कहीं-कहीं वे उनके बाधक भी बन जाते हैं, परन्तु काव्य में वही अलङ्कार ग्राह्य है जो रस, भाव आदि का उपकार करते हैं तथा वही सच्चे अर्थ में काव्य के अलङ्कार हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अलङ्कारों के द्वारा काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि होती है अथवा अलङ्कार शब्द और अर्थ के आभूषण है अलङ्कारों के द्वारा शब्दार्थ की श्रीवृद्धि होती है। अलङ्कारों के द्वारा वर्ण्यवस्तु के रूप गुण आदि का तो उत्कर्ष होता ही है साथ ही साथ रस, भाव आदि के सहज सौन्दर्य की वृद्धि होती है। वे प्रत्यक्षत: काव्य के वाच्यार्थ का उपस्कार करते हैं। अलङ्कार भी काव्य-सौन्दर्य का अन्तरङ्ग सहायक ही है। अलङ्कार को कभी काव्य-सौन्दर्य का पर्याय माना गया कभी काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाला धर्म तथा कभी उसे काव्य के सहज सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक मानते हुए किसी न किसी रूप में उसकी उपादेयता ही स्वीकार की गयी। अत: अलङ्कार को काव्य के सौन्दर्याधायक तत्व के रूप में मान्यता प्रदान करना सर्वथा उचित ही है।

अलङ्कार की काव्यात्मता

भारतीय वाङ्मय में आत्मा पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, परन्तु मुख्य रूप से इसका प्रयोग शरीर अन्त:करण एवं जीव के लिए रूढ़ है। वैसे तो आत्मा शब्द व्यक्ति से सम्बन्धित है। इससे कभी तो व्यक्ति के शारीरिक सम्बन्धों का

बोध होता है तथा कभी उसके मन, बुद्धि एवं अहंकार रूप अंत:करण का। दर्शन-शास्त्र में आत्मा शब्द देह, बुद्धि मन एवं अहंकार से परे सूक्ष्म शरीर (जीवात्मा) का बोध कराता है तथा सांख्य एवं वेदान्त दर्शन में यह चैतन्य मात्र का बोध करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा शब्द का प्रयोग देह, देही और चैतन्य के अर्थों में हुआ। अब हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य की आत्मा क्या है, क्योंकि काव्य का भी पुरुष के रूप में विवेचन हुआ है। जिस प्रकार शरीर में भी आत्मतत्त्व ही सबसे प्रमुख है क्योंकि इस आत्मत्व के बिना शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार काव्य में भी कोई न कोई तत्व ऐसा होना चाहिए जो आत्मस्थानीय हो। जिस प्रकार आत्मा से रहित व्यक्ति निर्जीव कह दिया जाता है उसी प्रकार जि तत्त्व को हम काव्यात्मा कहते हैं उसके अभाव में काव्य "काव्य" नहीं कहा जा सकता।

भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य के अङ्ग·भूत जो अनेक तत्व है जैसे-शब्द अर्थ, गुण, दोष, अलङ्·ार, रस, रीति, वक्रोक्ति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति आदि। इनको अलग-अलग आत्मा का स्थान दिया गया है। किसी आचार्य ने रस को, किसी ने अलङ्·ार को, किसी ने रीति को, किसी ने वक्रोक्ति को, किसी ने औचित्य को और किसी ने ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया था। जिस आचार्य ने जिस तत्त्व में सौन्दर्य की अनुभूति की उसने उसी को काव्य की आत्मा कहा।

प्राचीन अलङ्·ार शास्त्रियों में सबसे प्राचीन आचार्य भरत अथवा अग्नि-पुराणकार है जो कि रसवादी है उन्होंने "रस" को काव्य का सबसे प्रमुख तत्व माना। उनके मतानुसार काव्य का प्रमुख उद्देश्य रस का संचार करना है जिसका आस्वादन करके सहृदयजन एक विशेष प्रकार के आह्लाद का अनुभव करते हैं। अत:

रस ही काव्य की आत्मा है। भरत के बाद सबसे पहले आचार्य भामह ही हैं जो कि अलङ्कारवादी है और जिन्होंने अलङ्कार को ही काव्य का सर्वधान तत्व माना। इसके अतिरिक्त उद्भट, रूद्रट, जयदेव आदि ने भी अलङ्कार को काव्य की आत्मा माना। उनके मतानुसार काव्य का प्रमुखतम आकर्षक एवं सहृदयाह्लादक तत्व अलङ्कार है, काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है और इस शब्दार्थ रूप शरीर को अलङ्कृत करने वाले "अलङ्कार" ही काव्य की आत्मा है। भामह के मतानुसार जिस प्रकार सुन्दर होते हुए भी नारी का मुख बिना भूषणों के शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार सरस काव्य की शोभा भी अलङ्कारों से ही होती है। उन्होंने रस, भाव आदि का समावेश भी अलङ्कारों में ही करके काव्य में अलङ्कार का अङ्गित्व और इसका अङ्गत्व प्रतिपादित किया। अत: उस युग में अलङ्कार काव्यात्मा पदपर आसीन हुआ।

इसके बाद आचार्य वामन ने "रीति" को काव्य की आत्मा माना। उनके मतानुसार काव्य का सौन्दर्य पदों की संघटना के कारण होता है। पदों की संघटना को रीति कहते हैं और रीति ही काव्य की आत्मा है--रीतिरात्मा काव्यस्य"।

आचार्य आनन्दवर्धन ने रीतियों को केवल संघटना या अवयव संस्थान मानते हुए ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना- "काव्यस्यात्मा ध्वनि:" अर्थात् ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।[1]

1- काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवे पुरा ।
क्रौंच द्वन्द्व वियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।।
-ध्वन्यालोक 1/2

उन्होंने प्रतीयमान अर्थ के प्रधानत: तीन भेद किए- रसादि, वस्तु और अलङ्कार। यद्यपि उन्होंने इन तीनों में रस आदि की ही प्रधानता स्वीकार की, परन्तु वे रस के रहने पर ही काव्यत्व मानते हों ऐसी बात नहीं है। उन्होंने चमत्कारी वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कार व्यङ्ग्य के रहने पर भी काव्य को मान्यता प्रदान की।

अत: सामान्यत: उन्होंने "ध्वनि" [त्रिविधव्यङ्ग्य] को ही काव्य की आत्मा माना। उनके मतानुसार प्रतीयमानता के संस्पर्श के बिना काव्य में काव्यता नहीं आती। यहाँ तक कि अलङ्कारों के भार से लदी हुयी रचना में भी काव्यत्व का आधान प्रतीयमान के संस्पर्श से ही सम्पन्न होता है।[1] मम्मट आदि प्रसिद्ध आचार्य भी इसी मत के समर्थक हैं।

इसके पश्चात् आचार्य कुन्तक ने "वक्रोक्ति: काव्यजीवितम्" कहकर वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया। उनके मतानुसार वक्रोक्ति का लक्षण है"- वैदग्ध्यभङ्गीभणित: - अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढंग से कथन। उनकी यह मान्यता थी कि काव्य में आकर्षण तथा आह्लादकत्व वैचित्र्य के कारण ही उत्पन्न होता है। इस वैचित्र्य की उत्पत्तिउक्ति की विशेषता से होती है और वैचित्र्य से युक्त उक्ति को ही वक्रोक्ति कहते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया तथा

1- मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैव भूषा लज्जेव योषिताम् ।।
----ध्वन्यालोक 3/37

रस, ध्वनि आदि समस्त तत्त्वों का समावेश वक्रोक्ति में किया। वक्रोक्ति का अर्थ ही है- वक्र उक्ति- अर्थात् टेढ़ा कथन । आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का नामान्तर मानते हुए इसे काव्य का मूल तत्व स्वीकार किया।

इसके अनन्तर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहे जाने वाले रस, भाव आदि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। उनके मतानुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है। अग्निपुराणकार के मतानुसार भी "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्" अर्थात् वाणी के चातुर्य की प्रधानता होने पर भी काव्य में जीवनभूत रस ही है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने भी "काव्यस्यात्मनि सङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः" अर्थात् काव्य के आत्मभूत सङ्गी (स्थायी) रसादिक है" ऐसा कहकर इसी मत का समर्थन किया।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्यात्मरूप में व्यवस्थित किया। उनके मतानुसार काव्य का सबसे प्रमुख तत्त्व औचित्य ही है। यद्यपि औचित्य का विधान सैद्धान्तिक रूप में तो नहीं, परन्तु व्यवहारिक रूप में नाट्यशास्त्र में भी मिलता है। उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है और जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिससे जिसका मेल मिले उसे "उचित" कहते हैं। यह औचित्य ही रस का प्राणतत्त्व है और काव्य में चमत्कारी है। काव्य में औचित्य का अर्थ है काव्याङ्गों की अनुरूप घटना का होना। औचित्य ही सभी काव्यतत्त्वों का प्राण है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। अतः आचार्य क्षेमेन्द्र की यह धारणा कि अलङ्कार ही नहीं, अपितु अलङ्कार के अतिरिक्त अन्य जितने भी काव्य तत्त्व हैं सभी काव्य-तत्त्वों की उचित योजना होनी चाहिए।

औचित्य के अभाव में सभी काव्याङ्ग अशुन्दर और अग्राह्य हो जाते हैं उचित ही है। यही बात अलङ्कार के सम्बन्ध में कही जा सकती है कि वैसे तो अलङ्कार को काव्य सौन्दर्य का हेतु मानते हुए काव्यात्म रूप में मान्यता दी जा सकती है", लेकिन यह स्पष्ट है कि काव्य के जो अलङ्कार हैं वे अपने आप में काव्य सौन्दर्य के हेतु नहीं हैं, क्योंकि यदि काव्य में अलङ्कारों का भी उचित विन्यास न हो तो वो काव्य सौन्दर्य की वृद्धि नहीं कर सकते उचित विन्यास होने पर ही वे काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि कर सकते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जितने भी काव्य तत्व है सभी का अपना विशेष महत्व है। आत्मभूत तत्व के अभाव में तो किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यों को काव्यत्व इष्ट नहीं था।, हाँ इतना अवश्य है कि किसी ने अलङ्कार को, किसी ने गुण को, किसी ने रस को, किसी ने वक्रोक्ति और किसी ने रीति को तथा किसी ने ध्वनि को काव्यात्म रूप में मान्यता प्रदान की। काव्यात्मा के स्थापन में अलङ्कारों की जो स्थिति है विशेष महत्वपूर्ण है। वैसे तो जितने भी काव्य तत्व है अलङ्कार, गुण, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि सभी आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, परन्तु अलङ्कारों का काव्य में अनुपेक्षणीय महत्व है। अलङ्कार भावोत्कर्ष में सहायक होते हैं। यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि चाहे लोक-भाषा हो या काव्य-भाषा अलङ्कारों का प्रयोग हमेशा जाने अनजाने होता ही रहा है। भामह ने अलङ्कारों को काव्य का अभीष्ट तत्व मानते हुए यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की कि शब्दार्थ रूप काव्य की स्थिति अलङ्कारों के बिना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि उन्होंने अलङ्कार को काव्य का नित्यधर्म मानते हुए उसे काव्य में मुख्य स्थान दिया। आचार्य उद्भट

ने भी गुणों को संघटनाश्रय और अलङ्कारों को शब्दार्थाश्रय मानते हुए भी स्वरूप की दृष्टि से दोनों को काव्य का अनित्य तत्व माना। अलङ्कार सम्प्रदायवादी जयदेव ने भी अलङ्कारों को शब्दार्थ रूप काव्य का उसीप्रकार स्वरूपाधायक तत्व माना जैसे उष्णाता को अग्नि का । उनके मतानुसार जिस प्रकार अग्नि की उष्णता को उसका नित्यधर्म माना जाता है उसी प्रकार अलङ्कार भी काव्य के नित्य धर्म है। भामह, उद्भट आदि ने काव्य शोभा के साधक धर्म को अलङ्कार मानते हुए गुण रस आदि का समावेश अलङ्कार में किया। उन्होंने वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को भी अलङ्कार का प्राणभूत तत्व माना तो रूय्यक ने कथन के विशेष प्रकार आनन्दवर्धन ने वाग्विकल्प अर्थात् कथन के अनूठे ढंग को अनन्त मानते हुए उसके प्रकार को अलङ्कार कहा, इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त तथा पण्डितराजजगन्नाथ आदि ने भी कथन के निराले ढंग के प्रकार विशेष को अलङ्कार माना। अतः काव्य में अलङ्कारों की उपादेयता को देखते हुए उसे सर्वप्रधान काव्याङ्ग या काव्याङ्गव्यापी तत्व मानते हुए काव्यात्मस्थानीय पद प्रदान करना अधिक उपयुक्त है। वस्तुतः काव्यात्मा केस्थापन में उसकी स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अलङ्कार का उद्भव एवं विकास

ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय माना जाता है तथा अलङ्कारों का उद्भव सम्भवत: इस वाङ्मय के साथ ही हुआ है, क्योंकि संस्कृत वाङ्मय के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद की ऋचाओं में अलङ्कारों का सम्यक् प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में किसी भी स्थान पर अलङ्कारशास्त्र का शास्त्रीय रूप में विवेचन नहीं प्राप्त होता है, फिरभी उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि कुछ मूलभूत अलङ्कारों का प्रयोग हमें वैदिक संहिताओं एवं उपनिषदों में प्राप्त होता है, फिर भी उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि कुछ मूलभूत अलङ्कारों का प्रयोग हमें वैदिक संहिताओं एवं उपनिषदों में प्राप्त होता है। "अरङ्कृति" शब्द जो कि निश्चय ही "अलङ्कृति" शब्द का पर्याय है उसका प्रयोग भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है। उपमा अलङ्कार जो कि अलङ्कारों में अत्यन्त प्राचीन है तथा जिसे "समस्त अर्थालङ्कारों की जननी" कहा गया है का प्रयोग तो मिलता ही है साथ ही साथ अन्य अलङ्कारों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। एक साथ ही चार उपमाओं का प्रयोग उषाविषयक एक ऋचा में मिलता है। ऋग्वेद के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में अलङ्कार पद का प्रयोग तो सौन्दर्याधायक तत्व के रूप में स्पष्ट शब्दों में किया गया है। इसी प्रकार "उपमा" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भों में तो प्राप्त होता ही है परवर्ती युग में भी अनेक स्थानों पर उपमा अलङ्कार का शास्त्रीय विवेचन प्राप्त होता है।

परवर्ती युग में आचार्य यास्क, महर्षि पाणिनि, आचार्य भरत तथा महाभाष्यकार पतंजलि ने भी अलङ्कार-विषयक अनेक विवेचन प्रस्तुत किये हैं जिससे अलङ्कारों की प्राचीनता का इतिहास स्पष्ट होता है। दूसरी शताब्दी ई0 में

उद्‌टङ्कित शक-क्षत्रप रूद्रदामन के गिरिनार शिलालेख में भी--
"स्फुटलघु-मधुरचित्रकान्तसमयोदारालंकृत गद्यपद्य" की चर्चा मिलती है। परन्तु उपर्युक्त बातें तो अलङ्कार शास्त्र के प्रारम्भिक युग की कही जा सकती है। अलङ्कारशास्त्र का विस्तृत इतिहास तो भरत के नाट्यशास्त्र से ही प्रारम्भ होता है।

अलङ्कारशास्त्रीय इतिहास का प्रारम्भ नाट्यशास्त्र से होता है अथवा अग्निपुराण से इस विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद है। कुछ विद्वान नाट्यशास्त्र को अग्निपुराण से भी प्राचीन मानते हैं तथा कुछ अर्वाचीन, परन्तु नवीनतम अन्वेषणों से यह बात सिद्ध होती है कि अग्निपुराण का जो अलङ्कार शास्त्रीय भाग है वह उतना प्राचीन नहीं है क्योंकि अग्निपुराण में रूपक उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति आदि अलङ्कारों के जो लक्षण दिये गये हैं वे दण्डी के काव्यादर्श में भी मिलते हैं तथा कुछ अलङ्कारों के लक्षण भामह के काव्यालङ्कार के लक्षणों से मिलते जुलते हैं। अत: अग्निपुराण को इसके बाद का ही मानना पड़ेगा।

नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र का ही आदिग्रन्थ नहीं है अपितु इसमें नाट्योत्पत्ति, नाट्यगृह, नृत्यकला, छन्द, रस अभिनय सङ्गीत आदि के साथ-साथ अलङ्कारों का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलङ्कारों का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त चार अलङ्कार ही मूलभूत अलङ्कार है जिनमें यमक शब्दालङ्कार है शेष तीन अर्थालङ्कार ।

भरत के पश्चात् आचार्य भामह का आविर्भाव हुआ जो कि स्वतन्त्र अलङ्कारशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। भामह प्रणीत "काव्यालङ्कार" ही अलङ्कारशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। उन्होंने अलङ्कार को काव्य में मुख्यस्थान प्रदान

किया। आचार्य भामह का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। उनके मतानुसार अलङ्कार-रहित काव्य आभूषणहीन कान्ता के मुख की तरह सुन्दर होते हुए भी सुशोभित नहीं होता। उन्होंने वक्रोक्ति को समस्त अर्थालङ्कारों का मूल माना। भामह ने सर्वप्रथम शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार इन दोनों को बराबर का महत्व प्रदान किया।

आचार्य भरत द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त चार अलङ्कारों का विवेचन तो भामह ने किया ही, साथ ही साथ उन्होंने इन अलङ्कारों के अतिरिक्त 38 नये अलङ्कारों की भी परिकल्पना की। वे अलङ्कार हैं--

(1) अतिशयोक्ति, (2) अनन्वय, (3) अनुप्रास, (4) अपन्हुति, (5) अप्रस्तुत प्रशंसा, (6) अर्थान्तरन्यास, (7) आक्षेप, (8) आशीः, (9) उत्प्रेक्षा, (10) उत्प्रेक्षावयव, (11) उदात्त, (12) उपमा, (13) उपमारूपक, (14) उपमेयोपमा, (15) उर्जस्वी, (16) तुल्ययोगिता, (17) दीपक, (18) निदर्शना, (19) पर्यायोक्त, (20) परिवृत्ति, (21) प्रेय, (22) भाविक, (23) यथासंख्य, (24) यमक, (25) रसवत, (26) रूपक, (27) विभावना, (28) विरोध, (29) विशेषोक्ति, (30) व्यतिरेक, (31) व्याजस्तुति, (32) श्लेष, (33) सन्देह, (34) समासोक्ति, (35) समाहित, (36) संसृष्टि, (37) सहोक्ति तथा (38) स्वभावोक्ति ।

भामह के बाद कालक्रमानुसार दण्डी का नाम आता है। दण्डी के मतानुसार काव्य की शोभा करने वाले जो धर्म है वे अलङ्कार हैं। उन्होंने भामह की वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति के रूप में स्वीकार किया। दण्डी ने पैंतीस अलङ्कार स्वीकार किये हैं। उन्होंने भामह द्वारा स्वीकृत कुछ अलङ्कारों की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर उन्हें अन्य अलङ्कारों के अङ्ग रूप में स्वीकार किया -

उदाहरणार्थ- भामह ने प्रतिवस्तूपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, ससन्देह, उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान की किन्तु दण्डी ने उन्हें उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा के अङ्ग रूप में स्वीकार किया। दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश अलङ्कारों का भी अस्तित्व स्वीकार किया जबकि आचार्य भामह ने इनके अलङ्कारत्व को स्वीकार नहीं किया। दण्डी ने आशी: को निर्दिष्ट करते हुए यह कहा था कि कुछ लोग इसे भी अलङ्कार मानते हैं।

भामह दण्डी के अतिरिक्त अलङ्कारों के विकास में आचार्य वामन का भी महत्वपूर्ण योगदान है। आचार्य वामन् यद्यपि रीतिवादी आचार्य हैं परन्तु उन्होंने काव्यालङ्कारों के स्वरूप का भी विवेचन किया है। उन्होंने अलङ्कार को सौंदर्य का अपर पर्याय मानते हुए इकत्तीस अलङ्कारों का विवेचन किया है। वे समस्त अलङ्कारों को उपमा-प्रपंच मानते थे तथा उन्होंने अर्थालङ्कारों में उन्हीं [अलङ्कारों की सत्ता स्वीकार की जिनका आधार सादृश्य हो आचार्य वामन द्वारा स्वीकृत तीस अलङ्कार हैं।

वामन द्वारा स्वीकृत तीस अलङ्कारों में यमक तथा अनुप्रास शब्दालङ्कार हैं तथा शेष अर्थालङ्कार । इनमें वक्रोक्ति, व्याजोक्ति तथा "क्रम" नवीन हैं । "क्रम" अलङ्कार प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत यथासंख्य अलङ्कार की धारणा पर ही आधारित है। वामन ने उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में मान्यता न देकर उन्हें संसृष्टि के दो भेदों के रूप में मान्यता दी ।

अलङ्कारों के विकास में आचार्य उद्भट का भी उल्लेखनीय योगदान है। उन्होंने भामह तथा दण्डी द्वारा स्वीकृत कुछ अलङ्कारों की सत्ता को अस्वीकार किया तथा कतिपय अलङ्कारों के नवीन भेदों की कल्पना की और यदि कुछ

को नाम्ना स्वीकार भी किया तो उनके नवीन लक्षण प्रस्तुत किये ।उन्होंने भामह द्वारा स्वीकृत कुछ अलङ्कार लक्षणों को उसी रूप में स्वीकार भी किया। उन्होने अपने ग्रन्थ "काव्यालङ्कार सार संग्रह" में इकतालीस अलङ्कारों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। उद्भट द्वारा उद्भावित सात अलङ्कार हैं--

§1§पुनरूक्तवदाभास, §2§ छेकानुप्रास, §3§ लाटानुप्रास, §4§ प्रतिवस्तूपमा, §5§ संकर, §6§ काव्यलिङ्ग और §7§ दृष्टान्त ।

उपर्युक्त अलङ्कारों में पुनरूक्तवदाभास, छेकानुप्रास, संकर, काव्यलिङ्ग और दृष्टान्त ये पाँच अलङ्कार नवीन हैं। लाटानुप्रास को कुछ आचार्य उद्भट की नवीन कल्पना मानते हैंपरन्तु इसका प्रासंगिक संकेत भामह के काव्यालङ्कार सारसंग्रह में अनुप्रास-विवेचन क्रम में मिलता है। अतः लाटानुप्रास को उद्भट की नवीन उद्भावना मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। छेकानुप्रास का उल्लेख सर्वप्रथम उद्भट ने किया। उन्होंने इसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान की। प्रतिवस्तूपमा जिसे की उद्भट ने स्वतन्त्र अलङ्कार माना परन्तु भामह तथा दण्डी ने इसे उपमा अलङ्कार के ही एक भेद के रूप में परिगणित किया। सङ्कर को दण्डी ने सङ्कीर्ण अलङ्कार के एक भेद के रूप में परिकल्पित किया, लेकिन इसका नामोल्लेख सर्वप्रथम उद्भट ने ही किया। यमक अलङ्कार को भामह तथा दण्डी ने तो स्वीकार किया परन्तु उद्भट ने उसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया।

अतः स्पष्ट है कि पुनरूक्तवदाभास, काव्यलिङ्ग तथा दृष्टान्त उद्भट द्वारा कल्पित सर्वथा नवीन अलङ्कार है तथा सङ्कर और छेकानुप्रास की कल्पना उद्भट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के अन्य अलङ्कारों के आधार पर की है।

भामह, दण्डी तथा उद्भट के पश्चात् अलङ्कार सम्प्रदाय के विकास में आचार्य रूद्रट का नाम आता है। रूद्रट ने अलङ्कारों के विकास में महत्वपूर्ण

योगदान दिया तथा अलङ्कारों का विवेचन भी अधिक विस्तारपूर्वक किया। उद्भट ने इकतालीस अलङ्कारों को मान्यता प्रदान की जबकि आचार्य रुद्रट ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में तिरसठ अलङ्कारों का विवेचन किया है। उनके द्वारा विवेचित पाँच शब्दालङ्कार हैं-- (1) वक्रोक्ति, (2) अनुप्रास, (3) यमक, (4) श्लेष तथा (5) चित्र। उन्होंने अर्थालङ्कारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों में रखा है। रुद्रट के शब्दालङ्कारों में वक्रोक्ति तथा विचित्र ये दो नवीन अलङ्कार है। वक्रोक्ति की कल्पना तो आचार्य वामन ने भी की है लेकिन उन्होंने वक्रोक्ति को अर्थालङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान की। शब्दालङ्कार के रूप में वक्रोक्ति अलङ्कार की कल्पना सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने ही की। श्लेष को उन्होंने शब्दालङ्कार भी माना और अर्थालङ्कार भी। वास्तव वर्ग, औपम्य वर्ग, अतिशय वर्ग और श्लेष वर्ग में वैसे तो रुद्रट ने नवीन अभिधान वाले अन्य अलङ्कारों की भी कल्पना की, लेकिन उन अलङ्कारों की कल्पना पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता के आधार पर ही की है। उनके द्वारा कल्पित नवीन अलङ्कारों में वास्तव वर्ग में समुच्चय, विषम, कारणमाला, सार, अन्योन्य, मीलित तथा एकावली औपम्यवर्ग में- प्रत्यनीक तथा अतिशय वर्ग में- विशेष, अधिक, विषम, असङ्गति और पिहित हैं।

रुद्रट के पश्चात् आचार्य कुन्तक ने काव्य के अलङ्कारों का विवेचन किया है। यद्यपि कुन्तक अलङ्कारवादी आचार्य नहीं थे, फिर भी उन्होंने अलङ्कार विवेचन में महनीय योगदान दिया। उन्होंने किसी नवीन अलङ्कार की कल्पना तो नहीं की लेकिन प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत कुछ आचार्यों की अलङ्कार विषयक मान्यताओं का खण्डन करके उनके नवीन स्वरूप की कल्पना की। उनके मतानुसार पूर्ववर्ती आचार्यों ने उनके द्वारा स्वीकृत अट्ठाईस अलङ्कारों के अतिरिक्त

जिन अलङ्कारों की कल्पना की है उनमें से कुछ अलङ्कार तो उनके द्वारा स्वीकृत अलङ्कारों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं तथा कुछ को अलङ्कार के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की जा सकती।

भारतीय काव्यशास्त्र में भोजराज का भी स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है उन्होंने अपनी दोनों ही रचनाओं "सरस्वतीकण्ठाभरण" एवं "श्रृङ्गारप्रकाश" में काव्यालङ्कारों का विवेचन किया है। उन्होंने भी शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार नाम से अलङ्कारों का त्रिधा वर्गीकरण करते हुए शब्दालङ्कार को बाह्यालङ्कार, अर्थालङ्कार को आभ्यन्तर अलङ्कार और उभयालङ्कार को बाह्याभ्यन्तर अलङ्कार नाम से अभिहित किया है। उन्होंने कुल बहत्तर अलङ्कारों का स्वरूप निरूपित किया है जिनमें चौबीस शब्दालङ्कार, चौबीस अर्थालङ्कार एवं चौबीस उभयालङ्कार है। काव्यशास्त्र में कभी भी इतनी अधिक संख्या में शब्दालङ्कार स्वीकृत नहीं हुए थे। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित अनेक अलङ्कार से भिन्न काव्यतत्त्वों जैसे रीति, वृत्ति, गति आदि को भी अलङ्कार के मध्य परिगणित कर लिया। सामान्यत: काव्य में शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों को अधिक महत्त्व दिया जाता हैं परन्तु भोज ने उभयालङ्कारों को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए अलङ्कार के विकास में योगदान तो दिया ही साथ ही साथ शब्दगत, अर्थगत एवं उभगत अलङ्कारों की संख्यागत एकरूपता का विलक्षण सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

"अग्निपुराण" में किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नहीं हुयी। अग्निपुराण में भी शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार वर्ग की कल्पना की गयी है।

अलङ्कारों के विकास में आचार्य मम्मट का भी योगदान अनुपेक्षणीय है। यद्यपि उन्होंने किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नहीं की फिर भी उनमें किसी पूर्व विवेचित वस्तु को विस्तृत रूप देने की अद्भुत क्षमता थी। भरत, भामह, दण्डी, रूद्रट, कुन्तक आदि ने नवीन तथ्यों की उद्भावना को ही विशेष महत्व दिया परन्तु मम्मट ने पूर्व प्रचलित काव्य-विषयक धारणाओं में समन्वय स्थापित करके उनके सापेक्ष महत्व निर्धारण तथा विभिन्न काव्याङ्गों के स्वरूप निर्धारण में उल्लेखनीय योगदान दिया। मम्मट के द्वारा स्वीकृत अलङ्कारों की संख्या सरसठ है जिसमें छह शब्दालङ्कार हैं, इकसठ अर्थालङ्कार हैं तथा एक उभयालङ्कार है। शब्दालङ्कारों में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक,श्लेष, चित्र और पुनरूक्तवदभास है। उनके द्वारा उद्भावित अलङ्कार विनोक्ति, सम, सामान्य और अतद्गुण हैं।

भामह, दण्डी, रूद्रट, वामन के अतिरिक्त अलङ्कार शास्त्र के प्रतिष्ठाताओं में रूय्यक का भी स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। रूय्यक का प्रसिद्ध ग्रन्थ "अलङ्कार-सर्वस्व" है। उन्होंने कुल बयासी अलङ्कारों का विवेचन किया हैं। जिनमें परिणाम, उल्लेख, विचित्र, अर्थापत्ति तथा विकल्प नवीन अलङ्कार हैं। रूय्यक ने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति श्लेष के शब्दागत तथा अर्थगत भेद की पृथक् पृथक् विवेचना नहीं की, बल्कि उन्होंने श्लेष का एक ही लक्षण देकर उसके शब्दगत, अर्थगत और उभयगत इन तीन भेदों की कल्पना की है। रसवत्, प्रेय उर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता अलङ्कारों की कल्पना रूय्यक की नवीन उद्भावना नहीं है इनके स्वरूप का विवेचन मम्मट ने ध्वनि-निरूपण के क्रम में भी किया है।

रूय्यक के बाद लगभग एक शतक तक अलङ्कारों के विकास में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुयी। रूय्यक के बाद हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ "काव्यानुशासन" में छह

शब्दालङ्कारों तथा उनतीस अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। हेमचन्द्र के पश्चात् वाग्भट (प्रथम) ने अपने "वाग्भटालङ्कार" में चार शब्दालङ्कारों तथा पैंतीस अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। उनके द्वारा स्वीकृत अलङ्कारों के लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों से ही मिलते हैं उसमें कोई नवीनता नहीं है।

अलङ्कार के विकास में जयदेव का भी उल्लेखनीय योगदान है। मम्मट ने कहीं-कहीं बिना अलङ्कार के भी काव्य-सत्ता स्वीकार की परन्तु जयदेव ने उनके इस मत का खण्डन किया। जयदेव के मतानुसार जिस प्रकार उष्णता के बिना अग्नि की सत्ता सम्भव नहीं है उसी प्रकार अलङ्कार के बिना काव्य की स्थिति भी असम्भव है। उन्होंने पूर्व स्वीकृत अलङ्कारों में से कई अलङ्कारों की सत्ता को अस्वीकार किया तथा कुछ नवीन अलङ्कारों की परिकल्पना की। उनके ग्रन्थ "चन्द्रालोक" में जिन अलङ्कारों का विवेचन हुआ है उन अलङ्कारों की संख्या के विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। "चन्द्रालोक" में निरूपित शब्दालङ्कारों की संख्या आठ तथा अर्थालङ्कारों की संख्या एक सौ मानी गयी है। वे आठ शब्दालङ्कार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक और चित्र, हैं। जयदेव द्वारा निरूपित शब्दालङ्कारों में स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास नवीन हैं तथा अर्थालङ्कारों में उन्मीलित, परिकराङ्कुर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर, असम्भव, उल्लास, पूर्वरूप, अनुगुण, अवज्ञा, भाविकच्छवि तथा अत्युक्ति नवीन, अर्थालङ्कार हैं। उन्होंने नवीन अलङ्कारों की सत्ता प्रमाणित करते हुए यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि जिस प्रकार सुवर्ण से अनेक आकृतियों के आभूषण अलग-अलग नाम से स्वतन्त्र माने जाते हैं उसी प्रकार काव्य के अलङ्कार भी शब्दार्थ के विन्यास-भेद के कारण अलग-अलग माने जाने चाहिए।

विश्वनाथ यद्यपि रसवादी आचार्य हैं फिर भी इन्होंने अलङ्कारों का विवेचन अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से करते हुए सात शब्दालङ्कारों का निरूपण किया है। शब्दालङ्कारों में उन्होंने भाषासम नामक स्वतन्त्र शब्दालङ्कार के अस्तित्व को स्वीकार किया है। उनके द्वारा स्वीकृत अर्थालङ्कारों की संख्या सत्तहतर है जिनमें अनुकूल अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना नवीन है।

विश्वनाथ के बाद अप्पयदीक्षित का नाम आता है। चन्द्रालोक के आधार पर ही कुवलयानन्द की रचना की गयी है। उनके द्वारा कल्पित नवीन अलङ्कारों में प्रस्तुताङ्कुर, व्याजनिन्दा, अल्प, कारकदीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध और विधि हैं।

विश्वनाथ के बाद पण्डित जगन्नाथ में काव्यालङ्कारों के स्वरूप का विवेचन मिलता है। उन्होंने काव्यालङ्कारों के स्वरूप का स्वतन्त्र रूप से विवेचन करते हुए पूर्ववर्ती आचार्यों की अलङ्कारविषयक अनेक मान्यताओं का खण्डन किया है तथा उनके विषय में अपनी मान्यता की पुष्टि में अनेकों तर्क प्रस्तुत करते हुए अलङ्कारों के स्वरूप विकास में सहायता की उनके द्वारा स्वीकृत अलङ्कारों की संख्या सत्तर है जिनमें तिरस्कार" नामक अलङ्कार की कल्पना नवीन है।

पण्डितराज जगन्नाथ के बाद अलङ्कारों के विकास में यद्यपि कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुयी। पण्डितराज के बाद संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा का एकदम पतत्प्रकर्ष दिखाई पड़ता है। उनके बाद के आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने तीन ग्रन्थों में अलङ्कार के स्वरूप का विवेचन किया है। लेकिन उनकी रचनाओं में कोई अलङ्कार विषयक मौलिकता नही दृष्टिगोचर होती।

संस्कृत-अलङ्कार शास्त्र में अलङ्कारों के विकास में उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त विद्याधर विद्यानाथ आदि ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। जिसका विवेचन द्वितीय अध्याय में किया गया है। समस्त आलङ्कारिकों ने अलङ्कारों के नवीन-नवीन स्वरूप की कल्पना करके अलङ्कारों के विकास में तो योगदान किया ही, साथ ही साथ उन्होंने अलङ्कारों की संख्या विषयक प्रसार को भी परिमित करने का प्रयास किया।

अलङ्कार का अन्य काव्यतत्त्वों से सम्बन्ध

अलङ्कार काव्य की चारुता का हेतुभूत तत्त्व है। इस चारुता के हेतुभूत तत्त्वों की विविधरूपों में आचार्यों ने समीक्षा की है और इस कारण से जो विविध मत मतान्तर सामने आये उनकी काव्यात्म तत्त्वों के विवेचन में समीक्षा की जा चुकी है। यहाँ अलङ्कार का अन्य काव्य तत्त्वों से सम्बन्ध बताना इसलिए आवश्यक समझा गया है जिससे काव्यगत सौन्दर्य के हेतुभूत अन्य तत्त्वों से इसका विधिवत तुलनात्मक परीक्षण किया जा सके।

वास्तव में उक्ति का वैचित्र्य ही अलङ्कार है, यह उक्ति जब काव्य में चमत्कार उत्पन्न करती है तब वह अलङ्कार का रूप धारण कर लेती है। अलङ्कार, गुण, ध्वनि, रस आदि विभिन्न काव्य तत्त्व है जिनका अपना महत्त्व तो है ही साथ ही वे आपस में एक दूसरे से संबंधित भी हैं। आगे इन सभी से अलङ्कार के सम्बन्ध का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है--

अलङ्कार और गुण-

अलङ्कार और गुण में आपस में क्या संबंध है, इस विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद है। कुछ आचार्यों ने गुण एवं अलङ्कारों में अभेद सम्बन्ध की कल्पना की है तथा कुछ ने इसके पार्थक्य को स्पष्ट किया है। काव्यगत गुणों का विवेचन प्राय: सभी आचार्यों ने लोकगत गुणों के समानान्तर ही किया है इसी तरह अलङ्कारों को भी लौकिक आभूषण का समानार्थक ही माना गया है। उनके मतानुसार लौकिक गुण तथा अलङ्कारों में तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि

अलङ्कारों का शरीरादि के साथ संयोग संबंध होता है और शौर्यादि गुणों का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं, अपितु समवाय संबंध होता है । इसलिए लौकिक गुण तथा अलङ्कार में भेद माना जा सकता है परन्तु काव्य में तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार दोनों की ही समवाय संबंध से स्थिति होती है, इसलिए काव्य में उनके भेद का उपादान नहीं किया जा सकता।[1] आचार्य वामन भी गुण तथा अलङ्कार दोनों में भेद मानते हैं। उनके मतानुसार गुण काव्य शोभा के उत्पादक धर्म हैं तथा अलङ्कार उस शोभा को अतिशयित करने वाले धर्म हैं, इसलिए गुण को काव्य का स्वरूपाधायक धर्म एवं अलङ्कार को उसका उत्कर्षाधायक धर्म कहा जा सकता है। वे गुण ओज-प्रसादादि हैं। गुणों के अभाव में अलङ्कार काव्य के शोभाधायक नहीं हो सकते हैंऔर न तो वे काव्य की शोभा ही बढ़ा सकते हैं। जिस प्रकार किसी युवती के भीतर सौन्दर्यादि गुण पहले से विद्यमान हो तब ही अलङ्कार उसकी शोभा की वृद्धि कर सकते हैं वास्तविक सौन्दर्य के न होने पर अलङ्कार उसकी शोभावृद्धि नहीं कर सकते उसी प्रकार यदि काव्य में भी ओजादि गुण विद्यमान नहीं है तो उनके अभाव में अलङ्कार उसके शोभावर्धक नहीं हो सकते । गुण काव्य के नित्य धर्म हैं तथा अलङ्कार अनित्य । आचार्य आनन्दवर्धन ने गुण को रस का धर्म एवं अलङ्कार को शब्दार्थ का धर्म स्वीकार किया है। इसी मत के आधार पर आचार्य मम्मट ने भी गुणों की रसधर्मतातथा अलङ्कारों की शब्दार्थधर्मता एवं गुणों की अपरिहार्यता तथा अलङ्कारों की परिहार्यता के अभाव को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार यदि काव्य में अलङ्कार भी हों अलङ्कारों के अभाव में भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। अलङ्कार के अभाव में भी गुणों के सद्भाव एवं दोष के अभाव से शब्दार्थ सुन्दर काव्य बन

1- "समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणाम् भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपिसमवायवृत्त्या स्थितिरिति

सकते है और यदि अलङ्कार भी रस के सहायक बनकर आये तो काव्य का सौन्दर्य और उत्कृष्ट हो जाता है। वे भी गुण तथा अलङ्कार में भेद मानते हैं उन्होंने गुणों को शोभाजनक न मानकर उत्कर्ष हेतु ही माना है।[1] वे अलङ्कार को अङ्गों के उपकारक आभूषण की भाँति मानते हैं।

इस प्रकार अलङ्कार और गुण का आपस में क्या संबंध है इस विषय में विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गुण काव्य शोभा के उत्पादक धर्म हैं और काव्य में गुणों द्वारा जो शोभा उत्पन्न होती है अलङ्कार गुणों द्वारा उत्पादित उस शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म हैं।

अलङ्कार और ध्वनि-

अलङ्कार के सर्वतोव्यवृत्त रूप का परिचय ध्वनि संप्रदाय का उद्भव हो जाने के बाद ही मिलता है। यद्यपि अलङ्कारवादी आचार्यों के समय तक ध्वनि-सिद्धान्त का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था लेकिन उनके ग्रन्थों में प्रतीयमानार्थ की स्थिति का पता चलता है। अलङ्कारवादी आचार्यों के मतानुसार अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार तो है ही साथ में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति तथा, रसवत, प्रेयस, उर्जस्वी और समाहित आदि भी अलङ्कार ही हैं। इसी प्रकार गुण और ध्वनि को भी अलङ्कार में अन्तर्भूत किया गया है। आचार्य रूय्यक के मतानुसार अलङ्कारवादी आचार्यों ने व्यङ्ग्य अर्थ को अलङ्कार में ही गतार्थ कर

1- ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।

-- काव्यप्रकाश, 8/66

दिया है। उन्होंने व्यङ्ग्यअर्थ को वाच्य अर्थ का सहायक सिद्ध कर इस प्रकार के नियम का निर्धारण किया। दूसरी ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंजना की व्यापक व्याख्या कर रस और वस्तुध्वनि के साथ अलङ्कार को भी व्यङ्ग्य माना है और इस प्रकार ध्वनि की परिधि में अलङ्कार का प्रवेश कराया है।

आचार्य भामह ने प्रतीयमान अर्थ की कल्पना समासोक्ति एवं पर्यायोक्त के लक्षण में भी की है। उनके मतानुसार पर्यायोक्त अलङ्कार में वाच्य, वाचक, वृत्ति के अतिरिक्त व्यंजना की स्पष्टतः प्रतीति होती है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कारवादी आचार्यों के कई उदाहरणों को गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरणं के रूप में प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट रूप से इस बात की प्रतीति होती है कि अलङ्कार-वादी आचार्य भी ध्वनि सिद्धान्त से परिचित थे परन्तु उन्होंने इसे अलङ्कार में ही गतार्थ कर दिया था। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में अलङ्कारवादी आचार्यों की इस धारणा का खंडन किया है उनके मतानुसार ध्वनि का समाहार समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपन्हुति, अनुक्तनिमित्ता, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त एवं संकर अलङ्कार में नहीं किया जा सकता। वे इन अलङ्कारों का वाच्यगत चमत्कार मानते हैं जबकि ध्वनि में व्यंजना का महत्व है। कहने का भाव यह है कि अलङ्कारों में शब्दार्थगत चमत्कार होता है जबकि ध्वनि व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव पर आधारित होती है, अतः अलङ्कारों में शब्दार्थगत चमत्कार होने के कारण ध्वनि को अलङ्कार में किसी प्रकार से अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। अलङ्कार ध्वनि के अङ्ग हो सकते हैं, अङ्गी नहीं। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन मुख्य भेदों का प्रतिपादन किया वस्तुध्वनि, अलङ्कार ध्वनि एवं रसध्वनि। उन्होंने ध्वनि को काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप में माना तथा अलङ्कार रीति, आदि का निरूपण उसके अङ्ग के रूप में किया। उनके मतानुसार रसादि ध्वनि की

भाँति अलङ्कार की भी ध्वनि होती है और काव्य में ध्वनि होने पर अलङ्कार काव्य को उत्तम श्रेणी में लाता है। ध्वनि के रूप में प्रकट होने पर अलङ्कार का गौरव और बढ़ जाता है, परन्तु वाच्य होने पर इसकी स्थिति रसादि के उपकारक तत्व के रूप में ही मान्य होती है।

अलङ्कार और रस-

अलङ्कारवादी आचार्य भामह, दण्डी आदि ने अलङ्कार को तो गौरव प्रदान किया ही साथ ही साथ उन्होंने रस के महत्त्व को भी स्वीकार किया। यद्यपि उन्होंने रस को स्वतन्त्र स्थान न देकर अलङ्कार के अङ्ग रूप में ही स्वीकार किया तथा कहीं-कहीं (महाकाव्य के लिए) रस को आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया।[1] तथा श्रृंगार आदि रसों की स्पष्टतः प्रतीति की दशा में रसवत् अलङ्कार की स्थिति को भी अस्वीकार किया। वो अलङ्कार के अङ्ग रूप में रसों की स्थिति स्वीकार करते हैं।

रस को भी अलङ्कार कहने का अभिप्राय यही है कि अलङ्कारवादी आचार्यों के मतानुसार अलङ्कारता कविता का पर्याय है वह उपमा, रूपक आदि कुछ स्वरूपों में बाँधकर सीमित नहीं रखी जा सकती। काव्य में जिस किसी भी प्रकार से चमत्कार का आधान होता है वह सब अलङ्कार ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि कविता के माध्यम से जैसे-जैसे नवीन मार्ग का उन्मेष होता जाता है

1- युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।
काव्यालङ्कार 1/21

वैसे वैसे अलङ्कारों की नूतन सृष्टि होती है। काव्य में जिसके द्वारा चारुता का आधान होता है वह रस भी काव्य का एक महनीय तत्त्व है अत: इसे अलङ्कार की संज्ञा से अभिहित करना उचित ही है। यही कारण है अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने भी ध्वनि की सत्ता तो स्वीकार की तथा रसवद् आदि का भी निरूपण अलङ्कार के ही रूप में किया। भोज ने अलङ्कारों के तीन वर्ग स्वीकार किये-वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति एवं रसोक्ति। उनके मतानुसार जहाँ उपमा आदि अलङ्कारों की प्रधानता होती है वहाँ वक्रोक्ति तथा श्लेष आदि गुणों की प्रधानता होने पर स्वभावोक्ति होती है, परन्तु इसके अतिरिक्त जहाँ विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के अपनिबन्धन से रसनिष्पत्ति होती है वे स्थल रसोक्ति के हैं।

रसवादी आचार्यों का दृष्टिकोण अलङ्कारवादियों से सर्वथा भिन्न है। अलङ्कारवादी आचार्य अलङ्कार को काव्य का जीवनाधायक तत्त्व तथा रस, गुण, रीति आदि को वाह्य शोभाकारक धर्म मानते हैं। इसके विपरीत रसवादी आचार्य अलङ्कार को ही काव्य का वाह्य शोभाकारक धर्म मानते हैं उनके मता-नुसार काव्य में अलङ्कारों की स्थिति अनित्य है वे काव्य के अस्थिर धर्म हैं तथा कटक कुण्डलादि की भाँति अलग से धारण किये जाते हैं, जबकि रस काव्य का आत्मधर्मी है और अलङ्कारों का मुख्य कार्य तो केवल रस का उपकार करना है। अलङ्कार को केवल सौंदर्योत्पादन का साधन मात्र कहा जा सकता है। रसवद् प्रेयस्, ऊर्जस्वि आदि को तभी अलङ्कार कहा जा सकता है जब उनका वर्णन प्रधान रूप से न होकर गौण रूप से हो। इस प्रकार रसवादियों ने उद्‌भट की इस मान्यता

जिसमें रसवदादि अलङ्कारों के अन्तर्गत रसों को अन्तर्भूत किया जाता है उसका खंडन किया। वे रस को अलङ्कार्य मानकर अलङ्कार को उसका सौन्दर्यवर्धक तत्त्व मानते हैं। उनके मतानुसार अलङ्कार स्वयं चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकता, सौन्दर्य उत्पन्न करने का कार्य तो केवल अलङ्कारों का ही है। रसों के द्वारा तो काव्य की आन्तरिक श्री वृद्धि होती है अलङ्कार तो शब्द और अर्थ के के उपकारक होकर उसकी वाह्य शोभा की वृद्धि करते हैं।

अलङ्कार और रीति

गुण, ध्वनि, रस आदि के साथ-साथ रीति को भी काव्य का सर्वातिशायी तत्व स्वीकार किया गया। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए रीति को समस्त काव्याङ्गों के बीच प्रधान अथवा अङ्गी तत्व स्वीकार किया तथा साथ ही साथ उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि काव्य की ग्राह्यता अलङ्कार से ही है। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उठता है कि जिस रीति को काव्य का आत्मस्थानीय तत्व माना जा रहा है वह किसी न किसी रूप से उस अलङ्कार से अभिन्न होना चाहिए जिसके बिना काव्य का ग्रहण नहीं किया जा सकता। वामन के मतानुसार विशिष्ट पद रचना ही रीति है। रचना में यह वैशिष्ट्य गुणों के कारण ही उत्पन्न होता है। उन्होंने रीति को गुणों के ऊपर ही अवलम्बित मानते हुए गुणों को रीति का आधार माना। उनकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि रीति गुणों पर अवलम्बित काव्य-तत्व है।

रीति और अलङ्कार में अभेद इस रूप में है कि एक ओर तो रीति का लक्षण है विशिष्ट पद रचना और पद रचना का यह वैशिष्ट्य जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है गुणात्मक होता है जो काव्य में सौन्दर्य का आधान करता है अर्थात्

काव्य की शोभा करने वाला है दूसरी ओर अलङ्कार की जो स्थिति है वह दोषाभाव और गुणभाव के अतिरिक्त उपमा आदि अलङ्कारों के रूप में की गयी है जो काव्य शोभा में अतिशय का सम्पादन करती है। अतः काव्य के आत्मस्थानीय तत्व रीति के गुणात्मक वैशिष्ट्य के कारण काव्य का स्वरूपतः ग्रहण होगा परन्तु काव्य का विशेषतः ग्रहण उन उपमा आदि अलङ्कारों से होगा जो गुणों से सुशोभित रीत्यात्मक काव्य में विशेष (अतिशय) सौंदर्य का सम्पादन करते हैं। इस प्रकार काव्य में श्लेषादि गुण काव्य के स्वरूपाधायक तत्व है अतः वे काव्य के नित्यधर्म है तथा उपमादि अलङ्कार काव्य में अतिशय पैदा करने के कारण अनित्य धर्म। एक ओर तो आचार्य वामन ने गुणात्मकरीति को सर्वाधिक महत्व दिया तथा दूसरी ओर उन्होंने रीति के गुणात्मक वैशिष्ट्य को अलङ्कार माना। वैसे तो रसादि अलङ्कार्य कोटि में है और गुण, अलङ्कार, रीति आदि अलङ्कार कोटि में आते हैं। इतना अवश्य है कि अलङ्कार कोटि में आने वाले गुण, अलङ्कार और रीति में अलग अलग स्वरूपगत भेद तो है ही साथ-साथ स्थितिगत भेद भी है। अलङ्कार्यवादी आचार्यों के मतानुसार गुण रस के अनित्य धर्म है ये ठीक उसी प्रकार रस का उपकार करते हैं जैसे शौर्यादि आत्मा का उत्कर्ष करते है। उन्होंने अलङ्कार को शब्दार्थ का अनित्य धर्म स्वीकार किया।

इस प्रकार रीति पद वाक्य योजना के रूप में शब्दार्थ का ही रचना धर्म है। अतः रीति भी अपने अनित्य रूप में गुणों का अनुरोध करती हुयी रसों का ही उपकार करती है। गुणों के बिना तो पद रचना का वैशिष्ट्य सम्भव ही नहीं है क्योंकि गुण काव्य शोभा करने वाले नित्य धर्म हैं जबकि काव्य शोभा में अतिशय पैदा करने वाले अनित्य धर्म अलङ्कार हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जब रीति का स्वरूप काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाले गुणों के द्वारा

विशिष्ट पद रचना के रूप में पूरा हो जाता है तो काव्य शोभा में अलग से अतिशय पैदा करने के लिए उपमादि अलङ्कारों की आवश्यकता पड़ती है।

अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रीति और अलङ्कार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। रीति काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व है तो अलङ्कार उसका उत्कर्षाधायक तत्त्व । काव्य की ग्राह्यता अलङ्कारों के कारण है ऐसा आचार्य वामन ने भी स्वीकार किया। उनका यह कहना श्लेषादि काव्य शोभा करने वाले सामान्य काव्यव्यापी धर्म हैं ये सामान्य और नित्य हैं। इसके विपरीत उपमादि अलङ्कार गुणों द्वारा उत्पादित काव्य शोभा में अतिशय का सम्पादन करते हैं अत: ये विशेष और नित्यधर्म हैं ठीक ही है। काव्य में रीति और अलङ्कार दोनों का विशेष महत्त्व है। काव्य में गुणात्मक रीति का तो विशेष महत्त्व है ही क्योंकि उसके द्वारा काव्य की शोभा होती है तथा अलङ्कार की स्थिति जो उपमा आदि अलङ्कारों के रूप में स्वीकार की गयी है उसके द्वारा काव्य शोभा में अतिशय का सम्पादन होता है।

अलङ्कार और औचित्य

गुण, ध्वनि, रस, रीति आदि के साथ अलङ्कारों का सम्बन्ध तो है ही साथ ही साथ औचित्य जो कि काव्य का कोई स्वतन्त्र तत्त्व न होकर सभी काव्य तत्त्वों का प्राण है उसके साथ भी अलङ्कारों का सम्बन्ध है। उचित का भाव ही औचित्य है। जिस वस्तु के जो अनुरूप हो उसके साथ उसकी संघटना उचित मानी जाती है। अलङ्कारों का यदि उचित विन्यास न हो तो अपने आप में वे अलङ्कार काव्य की श्रीवृद्धि में सहायक नहीं हो सकते हैं। उचित विन्यास होने पर ही अलङ्कार सच्चे अर्थ में अलङ्कार होते हैं और काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं। यदि

काव्य में अलङ्कारों का उचित विन्यास न हो तो वो काव्य की शोभा तो बढ़ा नहीं सकते अपितु काव्य शोभा के बाधक ही बन जाते हैं। जिस प्रकार लोक जीवन में आभूषण अपने उचित स्थान में रहकर ही शोभायमान होते हैं उसी प्रकार अलङ्कारों का अपना महत्व तो है ही परन्तु वे उचित स्थान में रहकर ही शोभाकारी होते हैं। यदि कटि की मेखला गले में डाल ली तो उससे सौन्दर्य वृद्धि तो होती नहीं, उसी प्रकार यदि अलङ्कार की योजना उचित स्थान पर न होत तो उससे काव्य-सौन्दर्य बढ़ने के बजाय बिगड़ ही जायेगा। वास्तव में अलङ्कार औचित्य का ही दूसरा नाम है अलङ्कार और औचित्य का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि अलङ्कारों की अलङ्कारता उसके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर ही निर्भर करती है।

अलङ्कार और वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का तात्पर्य उक्ति-वैचित्र्य या भङ्गिभणिति से है। काव्य का समस्त सौन्दर्य वक्रोक्ति के आश्रित है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य सर्वस्व स्वीकार किया। उनके मतानुसार वक्रोक्ति अलङ्कार है। आचार्य भामह ने भी वक्रोक्ति को अलङ्कार का प्राण कहा था। वक्रोक्ति के बिना तो कोई अलङ्कार ही नहीं है।[1] काव्य में आकर्षण तथा आह्लादकत्व वैचित्र्य के कारण ही उत्पन्न होता है। वैचित्र्य से युक्त उक्ति ही वक्रोक्ति है। समग्र वक्रोक्ति सिद्धान्त की नींव अलङ्कार पर ही आश्रित है। वक्रोक्ति से हीन कथन को भामह ने वार्ता का नाम दिया है।

1- सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।।

-भामह, काव्यालङ्कार 2/85

मूलत: वक्रोक्ति एक अलङ्कार ही है परन्तु काव्यशास्त्रीय समीक्षा में इसका स्वरूप और अधिक व्यापक होता चला गया वक्रोक्ति के सम्बन्ध में भामह और दण्डी का मत एक ही है। भामह तथा दण्डी दोनों ने लोकवार्ता से भिन्न वाक्-भंगिमा को वक्रोक्ति माना। उनके मतानुसार अन्य सभी अलङ्कार इसी के प्रकार हैं। अन्तर इतना है कि भामह ने स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति की परिधि के भीतर माना परन्तु दण्डी के मतानुसार दोनों भिन्न हैं। वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ की कल्पना कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने तो की ही अन्त में आचार्य कुन्तक ने उसके भेद प्रभेद पूर्वक इस अलङ्कार के स्वरूप को अत्यधिक व्यापक कर काव्य समीक्षा का पृथक् मानदंड ही बना डाला। इस प्रकार वक्रोक्ति अलङ्कार का ही एक परिवर्धित व्यापक रूप है जिसका धर्म अलङ्कार के समान ही है। वस्तुत: देखा जाय तो अलङ्कार भी तो वक्र एवं विदग्धतापूर्ण कथन ही हैं[1] और अपने इस वैशिष्टय के द्वारा ही वह काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है। अत: अलङ्कार तत्त्व वक्रोक्ति से पृथक् नहीं है।

निष्कर्ष

अलङ्कार के इस सामान्य विवेचन द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत-काव्यशास्त्री आचार्यों ने अलङ्कार की काव्य-सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में ही व्याख्या की है। अलङ्कार शब्द का मौलिक अर्थ भी यही है कदाचित् इसी अर्थवत्ता के कारण एक लम्बे समय तक काव्यशास्त्र को अलङ्कारशास्त्र की भी संज्ञा दी जाती रही है। विशिष्ट सीमित अर्थों में भले ही उपमादि अलङ्कार

1- वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचांत्वलङ्कृति:।

हो परन्तु व्यापक अर्थ में सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले शोभाधायक तत्वों को अलङ्कार नाम से अभिहित किया गया है। सीमित अर्थ में अलङ्कार तत्व भले ही काव्य का आत्मभूत तत्व न बन सका परन्तु व्यापक अर्थ में अलङ्कार काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किये जाने वाले विविध सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध अवश्य रहा। काव्यशास्त्रीय समीक्षा के परवर्ती काल में विविध काव्यात्म-सम्प्रदायों के उद्भूत होते रहने पर भी यह अलङ्कार तत्व निरन्तर निर्बाध रूप से विद्यमान रहा और काव्य समालोचना का महत्वपूर्ण मानदंड रहा। दूसरी ओर कवियों के काव्यों में भी अलङ्कारों का प्रयोग विविध रूप से प्रवर्तमान रहा और कृतित्व के आधार पर ही काव्य समीक्षा में भी अलङ्कार तत्त्व को मान्यता मिलती रही। अतः अलङ्कार इस काव्यगत समालोचना के मध्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं तो अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व तो है ही। उसके विविध रूप में प्रयोग, उसकी महत्ता और बढ़ा देते हैं। अपनी इसी महत्ता के कारण अलङ्कार प्रस्तुत प्रबन्ध का शोधविषय बन सका।

द्वितीय अध्याय

अलङ्कार वर्गीकरण

द्वितीय अध्याय

अलङ्कार-वर्गीकरण

संस्कृत-काव्यशास्त्र में जैसे-जैसे अलङ्कारों का विकास होता गया वैसे-वैसे उनके वर्गीकरण की भी आवश्यकता पड़ी। सर्वप्रथम उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलङ्कारों का उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलता है। इन्हीं चार अलङ्कारों से सौ से भी अधिक नवीन अलङ्कारों की कल्पना की गयी। लक्षण गुण आदि विभिन्न काव्य तत्त्वों के संयोग से विभिन्न प्रकार के नवीन अलङ्कारों का आविर्भाव हुआ। कुछ नवीन अलङ्कार तो लक्षणों के पारस्परिक संयोग से आविर्भूत हुए तथा उक्तियों के थोड़े-थोड़े भेद से भी नवीन अलङ्कारों की कल्पना की गयी। अलङ्कारों का केवल एक संयोजक तत्त्व ही विभिन्न अलङ्कारों की उत्पत्ति का कारण बना। साधर्म्य के साथ-साथ वैधर्म्य भी अलङ्कारों का विधायक तत्त्व तो बना ही, इसके अतिरिक्त शृङ्खला आदि के आधार पर भी अनेक अलङ्कारों की कल्पना की गयी।

अलङ्कार-धारण के आरम्भिक काल से ही शब्द और अर्थ के आधार पर अलङ्कारों के दो विभाग तो पहले ही हो चुके थे। जो शब्द पर आश्रित थे वो शब्दालङ्कार एवं जो अर्थ पर आश्रित थे वे अर्थालङ्कार कहलाये। कुछ आचार्यों ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के अतिरिक्त जो शब्द एवं अर्थ दोनों पर आश्रित हो ऐसे उभयालङ्कार की परिकल्पना की तथा जहाँ एक से अधिक अलङ्कारों का एकत्र सद्भाव हो वहाँ मिश्रालङ्कार की स्थिति स्वीकार की।

अग्निपुराणकार ने यह मान्यता प्रकट की है कि ऐसे अलङ्कार जो शब्द और अर्थ को एक साथ विभूषित करते हैं उभयालङ्कार कहे जाते हैं तथा उनकी

स्थिति उस हार के समान मानी गयी है जो वक्ष और ग्रीवा दोनों को एक साथ ही अलङ्•कृत करता है।

उभयालङ्•कार शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित रहकर एक साथ दोनों को अलङ्•कृत करते है, परन्तु उभयालङ्•कार और मिश्रालङ्•कार में भेद यह है कि उभयालङ्•कार तो शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित रहकर एक साथ शब्द और अर्थ दोनों को अलङ्•कृत करते हैं, परन्तु मिश्रालङ्•कार में दो अलङ्•कारों के मिश्रण से नया अलङ्•कार रूप बन जाता है। यह मिश्रण या तो केवल शब्दालङ्•कारों के तत्त्व का होता है या केवल अर्थालङ्•कारों के तत्त्व का। आचार्य मम्मट के मतानुसार जो अलङ्•कार जिस पर आश्रित हो वह उसका अलङ्•कार कहलाता है- "यो यदाश्रित: स तदलङ्•कार:।" कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द पर आश्रित रहने वाले शब्दा-लङ्•कार अर्थ पर आश्रित रहने वाले अर्थालङ्•कार एवं शब्द तथा अर्थ दोनों पर आश्रित रहने वाले अलङ्•कार उभयालङ्•कार कहे जाते हैं। कुछ आलङ्•कारिकों ने उभयालङ्•कार को शब्दार्थालङ्•कार भी कहा है।

अलङ्•कारों के वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक है कि वर्गीकरण के लिए जो अलङ्•कार स्वीकार किये गये हैं या प्रस्तुत किये गये हैं उनका निर्धारण हो तथा साथ ही साथ वर्गीकरण के ऐसे आधार का निर्णय होना चाहिए जिसमें जो भी अलङ्•कार स्वीकार किये गये हैं उन सभी अलङ्•कारों का वर्ग-विभाजन हो सके। अलङ्•कारों का वर्गीकरण वैसे तो विभिन्न आधारों पर किया गया, लेकिन सबसे पहले अलङ्•कारों का वर्गीकरण आश्रय के आधार पर किया गया।

संस्कृत-आचार्यों ने अलङ्•कारों का जो भी वर्गीकरण किया है वह अपनी सीमा में मनोवैज्ञानिक कसौटी पर पूरा-पूरा नहीं उतरता है। हाँ, यह बात अलग है कि असंख्य मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के कारण जो भी वर्गीकरण किया

गया है उनमें कोई भी वर्गीकरण सर्वथा पूर्ण नहीं हो सकता। अलङ्कारों का जो स्थितिमूलक वर्गीकरण किया गया है वह निश्चय ही अपनी जगह पर पूर्ण हो सकता है। स्थितिमूलक का तात्पर्य-आश्रयमूलक और स्वरूपमूलक का तात्पर्य है- विन्यास-मूलक। इन दोनों प्रकार के वर्गीकरणों का विवेचन डा0 शंकरदेव अवतेर ने अपने ग्रन्थ "काव्यांग-प्रक्रिया" में किया है।[1]

कुछ प्रामाणिक आलङ्कारिकों ने काव्यालङ्कारों का विभाजन शब्द और अर्थ के आधार पर किया। आचार्य भरत ने शब्दालङ्कार तथा भामह, दण्डी आदि ने शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का अलग-अलग विवेचन कर दो स्वतन्त्र वर्ग स्पष्ट कर दिए। आचार्य भरत ने यद्यपि अलङ्कारवर्गीकरण दिशा में कोई स्पष्ट मत नहीं दिया है परन्तु उन्होंने यमक अलङ्कार का जो लक्षण दिया "शब्दाभ्यासस्तु यमकम्" इस लक्षण के द्वारा यमक अलङ्कार के शब्दालङ्कार होने की धारणा की पुष्टि होती है। आचार्य भामह ने भी शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों का नामतः निर्देश तो नहीं किया है किन्तु उद्भट ने अलङ्कारों का जो वर्गीकरण किया है उनके पहले वर्गीकरण में आठ अलङ्कार हैं उनमें चार शब्दपरक है और चार अर्थपरक, परन्तु उसका भी कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। वे श्लेष को अर्थालङ्कार मानते हैं, परन्तु इसका विभाजन शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में करते हैं। परन्तु मम्मट को यह मत मान्य नहीं हैं। वामन ही ऐसे प्रथम आचार्य है जिन्होंने "काव्यालङ्कार सूत्र" के चतुर्थ अधिकरण का पहला अध्याय "शब्दालङ्कार-विचार" नाम से दिया है। रूद्रट ने शब्दालङ्कारों की गणना की तथा उन्होंने

1- काव्यांग प्रक्रिया- पृ0 369-374

अर्थालङ्कारों का भी उल्लेख किया है। भोज ने शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार इन तीन वर्गों में अलङ्कारों को विभाजित किया। अग्निपुराणकार ने भी इसी मत का अनुसरण किया परन्तु विद्यानाथ ने शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों के अतिरिक्त मिश्रालङ्कार वर्ग को भी मान्यता दी।

भारतीय अलङ्कार शास्त्र में कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जो शब्द तथा अर्थ दोनों की अपेक्षा रखते हैं यही कारण है कि वे शब्दालङ्कार हैं अथवा अर्थालङ्कार ऐसा निर्णय कर पाने में कठिनाई होती है। उदाहरणार्थ जैसे श्लेष अलङ्कार शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा रखता है इसलिए उसके दो रूप मानकर एक को शब्दालङ्कार तथा दूसरे को अर्थालङ्कार स्वीकार किया गया। इसी प्रकार पुनरुक्तवदाभास को भी कुछ आचार्यों ने शब्दालङ्कार तथा कुछ ने अर्थालङ्कार माना परन्तु मम्मट आदि आचार्यों ने उसे उभयालङ्कार स्वीकार किया। आश्रय भेद के आधार पर अलङ्कारों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-

1- शब्दालङ्कार वर्ग

2- अर्थालङ्कार वर्ग

3- उभयालङ्कार वर्ग

4- मिश्रालङ्कार वर्ग

5- सङ्कीर्ण अलङ्कार वर्ग

शब्दालङ्कार

शब्दालङ्कार में वास्तव में प्रमुख रूप से शब्द का चमत्कार रहता है, परन्तु इसमें अर्थ का विचार बिल्कुल होता ही नहीं है यह बात भी नहीं कही जा सकती। शब्दालङ्कारों में भी अर्थ पर विचार होता है परन्तु दोनों में भेद केवल इतना ही

है कि शब्दालङ्•ार शब्द पर आश्रित होता है तथा अर्थालङ्•ार अर्थ पर। यदि किसी शब्द के स्थान पर उस शब्द का पर्यायवाची कोई शब्द रख दिया जाय और उस शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने पर यदि उसका अलङ्•ारत्व नष्ट हो जाय तो वह शब्दालङ्•ार होगा परन्तु यदि उसके अलङ्•ारत्व की हानि पर्याय परिवर्तन कर देने पर नहीं होती तो उस स्थान पर शब्दालङ्•ार नहीं माना जा सकता। उसे शब्दालङ्•ार की संज्ञा तभी प्रदान की जा सकती है जब उसमें पर्याय-परिवर्त्त-नासहत्व हो। पर्याय परिवतर्त्तनासहत्व ही शब्दालङ्•ार की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी आधार पर विद्वानों ने छ: शब्दालङ्•ारों को मान्यता प्रदान की है- 1- अनुप्रास 2- यमक 3- श्लेष 4- वक्रोक्ति 5- पुनरूक्तवदाभास तथा 6- चित्रालङ्•ा

अर्थालङ्•ार

अर्थालङ्कारों के विषय में यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि शब्द पर आश्रित रहने वाले अलङ्•ार शब्दालङ्•ार तथा अर्थ पर आश्रित रहने वाले अलङ्•ार कहलाते हैं। अर्थालङ्•ारों में एक शब्द के वाचक दूसरे शब्द के रख देने पर भी अलङ्•ारत्व की हानि नहीं होती। अत: अर्थ का परिवर्तन न होने के कारण अर्थ पर आश्रित रहने वाले अलङ्•ार के चमत्कार की हानि भी नहीं होती इसलिए पर्याय-परिवर्तनासहत्व शब्दालङ्•ार का तथा परिवृत्तिसहत्व अर्थालङ्•ार का बोधक है।

अर्थालङ्•ारों के बोधक दो मूल तत्वों का निर्देश आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्•ार में किया है वे हैं- वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति। वक्रोक्ति से उनका अभिप्राय अतिशयोक्ति से था। वक्रोक्ति के अभाव में उन्होंने अलङ्•ारत्व स्वीकार नहीं किया। स्वभावोक्ति अलङ्•ार का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा

कि कुछ लोगों ने स्वभावोक्ति को भी अलङ्कार माना है जिससे स्पष्ट होता है कि स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व भी उन्हें मान्य नहीं था। यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि भामह के मतानुसार समस्त अलङ्कारों की प्रसू या जननी वक्रोक्ति ही है।

कुछ आचार्यों ने अर्थालङ्कारों का विभाजन वाच्य और प्रतीयमान वर्गों में भी किया है। विद्यानाथ ने भी प्रतीयमान वास्तव, प्रतीयमान औपम्य आदि वर्गों में ऐसे अलङ्कारों को रखा है जिसमें अर्थ प्रतीयमान रहते हैं।

उभयालङ्कार

कुछ आचार्यों ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के साथ उभयालङ्कार की कल्पना की। उभयालङ्कार को ही शब्दार्थालङ्कार भी कहा गया है क्योंकि यह शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित रहते हैं। उभयालङ्कार की धारणा सर्वसम्मत नहीं है। अग्निपुराणकार ने उभयालङ्कार का अभिप्राय समन्वित रूप से शब्द और अर्थ दोनों को अलङ्कृत करने वाले अलङ्कारों से माना उनके मतानुसार ऐसे अलङ्कार जो शब्द और अर्थ को एक साथ विभूषित करते हों उभयालङ्कार कहे जाते हैं तथा उसकी स्थिति उस हार के समान मानी गयी है जो एक साथ वक्ष और ग्रीवा दोनों को अलङ्कृत करते हैं।

मिश्रालङ्कार

मिश्रालङ्कार वे अलङ्कार हैं जिनमें दो अलङ्कारों के मिश्रण से नया अलङ्कार रूप बन जाता है। यह मिश्रण केवल शब्दालङ्कारों के तत्व का हो सकता है और केवल अर्थालङ्कारों के तत्व का भी। विद्यानाथ ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के अतिरिक्त अलङ्कार का तीसरा वर्ग मिश्रालङ्कार वर्ग स्वीकृत

किया है तथा इसमें संसृष्टि और सङ्कर को रखा है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी सङ्कर और संसृष्टि को अलङ्कारों का मिश्रित रूप कहा है।[1]

सङ्कीर्ण अलङ्कार

कुछ आचार्यों ने संसृष्टि और सङ्कर का विवेचन करते हुए अलङ्कारों की संसृष्टि तथा उनके सङ्कर को सङ्कीर्ण अलङ्कार वर्ग में रखा है।

कुछ आचार्यों ने सङ्कीर्ण अलङ्कार वर्ग को अलग से मान्यता न देकर मिश्रालङ्कार वर्ग को ही मान्यता दी क्योंकि उन्होंने संसृष्टि और सङ्कर को भी अलङ्कारों का ही मिश्रित रूप माना। परन्तु कुछ आचार्यों ने सङ्कर और संसृष्टि को मिश्रालङ्कार वर्ग में न रखकर उसका विवेचन "सङ्कीर्ण" अलङ्कार शीर्षक में किया है। मिश्रालङ्कार में दो अलङ्कारों के मिश्रण से नया अलङ्कार बनता है, परन्तु सङ्कीर्ण अलङ्कार में तो एक से अधिक किन्ही भी अलङ्कारों के मिश्रण की सम्भावना होने से उनका स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है। अतः मिश्रालङ्कार और सङ्कीर्ण अलङ्कार का विवेचन स्वतन्त्र वर्गों में करते हुए अलङ्कारों की संसृष्टि तथा उनके सङ्कर को सङ्कीर्ण अलङ्कार वर्ग में रखा जा सकता है। विभिन्न आचार्यों ने अलङ्कारों का वर्गीकरण अलग-अलग ढंग से किया है-

रुद्रटकृत वर्गीकरण

काव्यालङ्कारों को सर्वप्रथम यथासम्भव सुव्यवस्थित रूप में वर्गीकृत करने का श्रेय आचार्य रुद्रट को है। उन्होंने अलङ्कारों को आश्रय के आधार पर

1- यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः।
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्करस्तथा।।

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार वर्गों में विभाजित किया। समस्त अर्थालङ्कारों को उन्होंने उनके मूल तत्वों के आधार पर चार वर्गों में विभक्त किया-
1- वास्तव वर्ग 2-औपम्य वर्ग 3-अतिशय वर्ग 4-श्लेष वर्ग।[1]

1- वास्तव वर्ग

वस्तु स्वरूप कथन को "वास्तव" कहते हैं। उनके मतानुसार जहाँ वस्तु के स्वरूप का कथन हो, किन्तु वह पुष्टार्थ हो अविपरीत हो, तथा उपमा, अतिशय और श्लेष से भिन्न हो[2] वह वास्तव है इस वर्ग में उन्होंने सहोक्ति, समुच्चय, जाति या स्वभावोक्ति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित तथा एकावली अलङ्कार की गणना की है।

2- औपम्य वर्ग

जिन अलङ्कारों में वक्ता किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करे उन्हें औपम्यमूलक अलङ्कार कहा जाता है।[2] उनके मतानुसार उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय या सन्देह, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति,

---

1- वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरूपममनतिशयमश्लेषम्।।
-काव्यालङ्कार 7/10

2- सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्।।
-काव्यालङ्कार 8/1

समुच्चय, साम्य और स्मरण औपम्य वर्गगत अलङ्कार है।

3- अतिशय वर्ग

जहाँ कोई अर्थ और धर्म का नियम अपनी प्रसिद्धि (ख्यात स्थिति) के बाध के कारण लोकातिक्रान्त विपरीतता को प्राप्त होता है, वहाँ "अतिशय" माना जाता है।[1] पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण अधिक, विरोध, विषम, असङ्गति, पिहित, व्याघात और हेतु को उन्होंने अतिशयवर्गगत अलङ्कार माना।

4- अर्थ-श्लेष-वर्ग-

जिन अलङ्कारों में अनेकार्थक पदों से रचित एक वाक्य अनेक अर्थों का निश्चय (द्योतन) करता है वे अर्थश्लेषमूलक अलङ्कार है।[2] इसमें श्लेष के मुख्य दो भेद आते है-- शुद्ध और सङ्कीर्ण। शुद्ध श्लेष के भेद- अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास। सङ्कीर्ण के भेद- संसृष्टि और सङ्कर।

इस प्रकार रूद्रट ने बारह अलङ्कारों की गणना श्लेष-वर्गगत अलङ्कारों कि जिनमें दस शुद्ध हैं और दो सङ्कीर्ण। रूद्रट के पूर्व भामह अलङ्कार को वक्रोक्ति

1- यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य।।-काव्यालङ्कार 9/1

2- यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः।। काव्यालङ्कार 10/1

या अतिशयोक्ति मूलक मानते थे तथा वामन ने सभी अलङ्कारों को औपम्यमूलक माना । रुद्रट ने भामह के अतिशयमूलक और वामन के औपम्यमूलक अलङ्कारों की सत्ता तो स्वीकार की ही परन्तु उन्होंने उन दोनों के अतिरिक्त वास्तव और श्लेष मूलक अलङ्कार वर्गों की कल्पना की।

रुय्यककृत वर्गीकरण-

रुद्रट के अतिरिक्त आचार्य रुय्यक का अलङ्कार वर्गीकरण के क्षेत्र में महनीय योगदान है। उन्होंने सादृश्य, विरोध, श्रृङ्खला, न्याय और गूढार्थप्रतीति के आधार पर अपने अलङ्कारों को वर्गीकृत किया। उन्होंने सादृश्यमूलक अलङ्कारों में यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार कभी-कभी उपमान की प्रधानता बढ़ते बढ़ते उपमेय को अतिशयोक्ति में विगीर्ण कर और दूसरी ओर उपमेय की प्रधानता बढ़ते-बढ़ते अनन्वय की स्थिति में उपमेय ही उपमान हो जाता है। उनका अलङ्कार वर्गीकरण इस प्रकार है-

1- सादृश्यगर्भ-

सादृश्यगर्भ अलङ्कारों का मूल तत्व आचार्य रुय्यक ने साधर्म्य बताया उनके मतानुसार साधर्म्य के तीन भेद हैं--

(क) भेदाभेदतुल्य-प्रधान

(ख) अभेद प्रधान

(ग) गम्यमानौपम्य

सादृश्यगर्भ अर्थालङ्कारों का विभाजन इस प्रकार किया गया है-

भेदाभेदतुल्यप्रधान सादृश्यगर्भ अलङ्कार-

1- उपमा, 2- उपमेयोपमा, 3- अनन्वय और 4- स्मरण।

अभेदप्रधान सादृश्य गर्भ अलङ्कार-

(अ) आरोपमूलक- 1. रूपक, 2. परिणाम, 3. सन्देह, 4. भ्रान्ति 5. उल्लेख तथा 6. अपन्हुति ।

(आ) अध्यवसाय मूलक- 1. उत्प्रेक्षा एवं, 2. अतिशयोक्ति

गम्यमान-औपम्य सादृश्यगर्भ अलङ्कार-

1- तुल्ययोगिता, 2- दीपक, 3- प्रतिवस्तूपमा, 4- दृष्टान्त, 5- निदर्शना, 6- व्यतिरेक, 7- सहोक्ति, 8- विनोक्ति, 9- समासोक्ति, 10- परिकर, 11- श्लेष, 12- अप्रस्तुतप्रशंसा, 13- पर्यायोक्त, 14- अर्थान्तरन्यास, 15- व्याजस्तुति तथा 16- आक्षेप ।

2- विरोधगर्भ-

जिन अलङ्कारों के मूल में विरोध की भावना निहित रहती है उनकी गणना इस वर्ग में की गयी है। वे अलङ्कार हैं-

1- विरोध, 2- विभावना, 3- विशेषोक्ति, 4- सम, 5- विषम, 6- विचित्र, 7- अधिक, 8- अन्योन्य, 9- विशेष, 10- व्याघात, 11- कार्यकारणपौर्वापर्य-रूप अतिशयोक्ति और 12- असङ्गति ।

3- श्रृंखलामूलक-

इस वर्ग में उन अलङ्कारों को रखा गया है जिन अलङ्कारों में पद या वाक्य अन्य पद या वाक्य के साथ श्रृङ्खला रूप से सम्बद्ध रहते हैं। इस वर्ग में

रखे गये अलङ्कार है-

1- कारणमाला, 2- एकावली, 3- मालादीपक और 4- सार

4- न्यायमूलक-

न्यायमूलक अलङ्कारों को तीन वर्गों में रखा गया है-

(क) तर्कन्यायमूलक अलङ्कार- 1- काव्यलिङ्ग, और 2- अनुमान ।

(ख) वाक्यन्यायमूलक अलङ्कार - 1- यथासंख्य, 2- पर्याय, 3- परिवृत्ति, 4- अर्थापत्ति, 5- विकल्प, 6- परिसंख्या, 7- समुच्चय तथा 8- समाधि ।

(ग) लोकन्यायमूलक अलङ्कार- 1- प्रत्यनीक, 2- प्रतीप, 3- मीलित, 4- सामान्य, 5- तद्गुण, 6- अतद्गुण और 7- उत्तर ।

5- गूढार्थप्रतीतिमूलक

जिन अलङ्कारों में गूढ़ अर्थ की प्रतीति हुआ करती है उनको इस वर्ग में रखा गया है क्योंकि उन अलङ्कारों का सौन्दर्य गूढ़ार्थ बोध में ही निहित रहता है। गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कार हैं- 1- सूक्ष्म, 2- व्याजोक्ति एवं 3- वक्रोक्ति ।

इस प्रकार आचार्य रुय्यक ने अलङ्कार के कुछ मूलभूत तत्त्वों के आधार पर नवीन दृष्टि से अलङ्कारों के वर्गीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। उन्होंने अपने चौसठ अलङ्कारों का अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से विभाजन तो किया फिर भी उनके अनेक अलङ्कार जैसे स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि, सङ्कर, रसवद्, प्रेय, उर्जस्वी तथा समाहित आदि अलङ्कार अवर्गीकृत रह गये। यद्यपि उन्होंने इन अलङ्कारों का सद्भाव तो स्वीकार किया है परन्तु उनके वर्ग की कल्पना

नहीं की । उन्होंने संसृष्टि और सङ्कर के वर्ग की कल्पना को भी आवश्यक नहीं समझा। उनके मतानुसार अन्य अलङ्कार ही अपने मूल तत्त्वों के साथ संसृष्टि एवं सङ्कर में सङ्कीर्ण रूप से रह सकते है उनमें कोई स्वतन्त्र मूल तत्त्व नहीं है तथा इन दोनों का समाहार आश्रय के आधार पर वर्गीकरण में ही सम्भव है वैसे रुद्रट ने जो वास्तववर्ग की कल्पना की रूय्यक ने उसको स्वीकार नहीं किया यह उचित नहीं लगता क्योंकि उन्होने स्वभावोक्ति को अलङ्कार रूप में स्वीकृति और स्वभावोक्ति का मूल तत्त्व है वस्तुरूप वर्णन । अत: स्वभावोक्ति भी वास्तव-वर्ग का ही अलङ्कार है इसकी गणना वास्तववर्गगत अलङ्कारों में की जानी चाहिए। रूय्य ने जो सादृश्य के भेदाभेद प्रधान, अभेदप्रधान तथा गम्यमानौपम्य भेदों के कल्पनना की एवं विरोधमूलक, श्रृङ्खलामूलक तथा गूढार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कारों की उनके मूलभूत तत्त्वों के आधार पर कल्पना करके भारतीय अलङ्कार शास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

विद्याधरकृत वर्गीकरण-

विद्याधर ने "एकावली" में अलङ्कारों का वर्गीकरण आचार्य रूय्यक के वर्गीकरण-सिद्धान्त के आधार पर किया है। उन्होंने आश्रय के आधार पर शब्द और अर्थ वर्गों में अलङ्कारों का विभाजन करके अर्थालङ्कारों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है-

{1} भेद प्रधान वर्ग-

1- उपमा, 2- उपमेयोपमा, 3- अनन्वय तथा 4- स्मरण ।

{2} अभेदप्रधान वर्ग-

{क} आरोपमूलक- 1. रूपक, 2. परिणाम, 3. सन्देह, 4. भ्रान्तिमान, 5. उल्लेख और 6. अपन्हुति ।

§3§ गम्योपेम्याश्रयी वर्ग-

1- तुल्ययोगिता, 2- दीपक, 3- प्रतिवस्तूपमा, 4- दृष्टान्त, 5- निदर्शना, 6- व्यतिरेक, 7- सहोक्ति, 8- विनोक्ति, 9- समासोक्ति, 10- परिकर, 11- परिकराङ्कुर, 12- श्लेष, 13- अप्रस्तुत प्रशंसा, 14- अर्थान्तरन्यास, 15- पर्यायोक्ति और 16- आक्षेप ।

§4§ विरोधगर्भ-

1· विरोध, 2· विभावना; 3· विशेषोक्ति, 4· अतिशयोक्ति, 5· असङ्गति, 6· विषम, 7· सम, 8· विचित्र, 9· अधिक, 10· अन्योन्य, 11· विशेष तथा 12· व्याघात ।

§5§ शृङ्खलाकार-

1· कारणमाला, 2· एकावली, 3· मालादीपक, 4· सार, 5· काव्यलिङ्ग, 6· अनुमान, 7· यथासंख्य, 8· पर्याय, 9· परिवृत्ति, 10· परिसंख्या, 11· अर्थापत्ति, 12· समुच्चय और 13· समाधि ।

§6§ लोकन्यायाश्रयी-

1· प्रत्यनीक, 2· प्रतीप, 3· मीलित, 4· सामान्य, 5- तद्गुण, 6· अतद्गुण, 7· उत्तर और 8· प्रश्नोत्तर ।

§7§ बलाद्गूढार्थप्रतीतिमूलक-

1· सूक्ष्म, 2· व्याजोक्ति, 3· वक्रोक्ति, 4· स्वभावोक्ति, 5· भाविक और 6-उदात्त ।

§8§ अन्योन्याश्लेषमूल-

1· संसृष्टि और 2· सङ्कर

अलङ्कार-वर्गीकरण के क्षेत्र में यद्यपि आचार्य विद्याधर ने कोई मौलिक योगदान नहीं दिया। उन्होंने रुय्यक के अलङ्कार वर्गों को स्वीकार किया ही तत्व ही उन्होंने संसृष्टि और सङ्कर के वर्गीकरण के लिए अन्योन्याश्लेषपेशल वर्ग की कल्पना की । उन्होंने जो अन्योन्याश्लेषपेशल वर्ग की कल्पना की इसका मूल आधार रुद्रट के श्लेष-भेद सङ्कीर्ण वर्ग की कल्पना में है। रुय्यक की भाँति उन्होंने भी सादृश्यगर्भ अलङ्कारके तीन उपवर्गों की कल्पना की। उन्होंने विरोधमूलक तथा शृङ्खलामूलक वर्गों को भी स्वीकार किया। रुय्यक ने न्यायमूलक अलङ्कारों के तीन वर्गों की कल्पना की लेकिन विद्याधर ने उनमें से केवल लोकन्यायाश्रयी वर्ग की सत्ता स्वीकार की। रुय्यक के गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कार वर्ग को विद्याधर ने बलाद्गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कार वर्ग इस नाम से स्वीकार किया है। उन्होंने रुय्यक के वर्गीकरण को स्वीकार तो किया है परन्तु रुय्यक ने जिन अलङ्कारों को वर्गीकृत नहीं किया है उन अलङ्कारों को भी विद्याधर ने उन्हीं वर्गों में समाविष्ट किया है जैसे स्वभावोक्ति भाविक तथा उदात्त को उन्होंने बलाद्गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कारवर्ग में रखा है जो कि उचित नहीं लगता, क्योंकि स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त में से किसी में भी किसी गूढ़ अर्थ की व्यञ्जना नहीं रहती उनमें तो वस्तुस्वरूप का वर्णन ही अपेक्षित माना जाता है। इस प्रकार विद्यानाथ ने अलङ्कार वर्गीकरण में रुय्यक के मत का ही अनुकरण किया है।

विद्यानाथकृत वर्गीकरण

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर के मत का अनुकरण करते हुए अलङ्कार वर्गीकरण किया। विद्यानाथ ने पहले आश्रय-भेद के आधार पर अलङ्कार के तीन वर्ग स्वीकार किये शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत। उन्होंने अनुप्रास आदि को शब्दालङ्कार, उपमा आदि को अर्थालङ्कार तथा लाटानुप्रास

आदि को उभयगत अलङ्कार माना। उन्होंने अर्थालङ्कार के मुख्य चार विभाग किये। उनके चार प्रमुख अलङ्कार-वर्ग तथा उन वर्गों में विभाजित अलङ्कार इस प्रकार हैं-

प्रमुख प्रकार

§1§ प्रतीयमान वास्तव-वर्ग

§1§ समासोक्ति, §2§ पर्यायोक्ति, §3§ आक्षेप, §4§ व्याजस्तुति, §5§ उपमेयोपमा, §6§ अनन्वय, §7§ अतिशयोक्ति, §8§ परिकर, §9§ अप्रस्तुतप्रशंसा तथा §10§ §अनुक्तनिमित्ता§ विशेषोक्ति।

§2§ प्रतीयमानौपम्य वर्ग

§1§ रूपक, §2§ परिणाम, §3§ सन्देह, §4§ भ्रान्तिमान्, §5§ उल्लेख, §6§ §सापह्नव§ उत्प्रेक्षा, §7§ स्मरण, §8§ तुल्ययोगिता, §9§ दीपक, §10§ प्रतिवस्तूपमा, §11§ दृष्टान्त, §12§ सहोक्ति, §13§ व्यतिरेक, §14§ निदर्शना और §15§ श्लेष ।

§3§ प्रतीयमानरसभावादि वर्ग

§1§ रसवद्, §2§ प्रेय, §3§ उर्जस्वजी, §4§ समाहित, §5§ भावोदय, §6§ भावसन्धि तथा §7§ भावशबलता ।

अस्फुटप्रतीयमान-वर्ग

§1§ उपमा, §2§ विनोक्ति, §3§ अर्थान्तरन्यास, §4§ विरोध, §5§ विभावना, §6§ §गुणनिमित्ता§ विशेषोक्ति, §7§ विषम, §8§ सम, §9§ चित्र, §10§ अधिक, §11§ अन्योन्य, §12§ कारणमाला, §13§ एकावली, §14§ व्याघात,

§15§ मालादीपक, §16§ काव्यालिङ्ग, §17§ अनुमान, §18§ सार, §19§ यथा-संख्य, §20§ अर्थापत्ति, §21§ पर्याय, §22§ परिवृत्ति, §23§ परिसंख्या, §24§ विकल्प, §25§ समुच्चय, §26§ समाधि, §27§ प्रत्यनीक, §28§ प्रतीप, §29§ विशेष §30§ मीलित, §31§ सामान्य, §32§ असङ्गति, §33§ तद्गुण, §34§ अतद्गुण, §35§ व्याजोक्ति, §36§ वक्रोक्ति, §37§ स्वभावोक्ति, §38§ भाविक, और §39§ उदात्त ।

विद्यानाथ ने समासोक्ति अलङ्कार को प्रतीयमान वस्तुवर्ग में रखा है परन्तु रूय्यक ने इसकी गणना गम्यमानौपम्य वर्ग में की है। उपमेयोपमा को भी विद्यानाथ ने गम्यामानौपम्य वर्ग में रखा जबकि रूय्यक ने इसे भेदाभेदतुल्य प्रधान सादृश्य गर्भ अलङ्कार वर्ग में रखा है। आचार्य रूय्यक के गम्यमानौपम्य वर्ग के आधार पर ही विद्यानाथ ने प्रतीयमानौपम्य-वर्ग की कल्पना की। इसके अतिरिक्त विद्यानाथ ने रसावदादि अलङ्कारों के लिए प्रतीयमान-रसभावादि वर्ग की कल्पना की। विद्यानाथ के इस वर्गीकरण में ध्वनिवाद का प्रभाव परि-लक्षित होता है।

अवान्तर विभाग

1· सादृश्यमूलक

§क§ अभेद प्रधान साधर्म्य निबन्धन

§1§ रूपक, §2§ परिणाम, §3§ सन्देह, §4§ भ्रान्तिमान, §5§ उल्लेख तथा अपह्नव ।

§ख§ भेदप्रधान सार्म्य निबन्धन

§1§ दीपक, §2§, तुल्ययोगिता, §3§ दृष्टान्त, §4§ निदर्शना, §5§ प्रतिवस्तूपमा, §6§ सहोक्ति, §7§ प्रतीप, §8§ व्यतिरेक ।

§ग§ भेदाभेद साधारण-साधर्म्यमूलक

§1§ उपमा, §2§ अनन्वय, §3§ उपमेयोपमा, §4§ स्मरण

§घ§ अध्यवसायमूलक

§1§ उत्प्रेक्षा, §2§ अतिशयोक्ति ।

2· विरोधमूलक

§1§ विभावना, §2§ विशेषोक्ति, §3§ विषम, §4§ चित्र, §5§ असङ्गति, §6§ अन्योन्य, §7§ व्याघात, §8§ अतद्गुण , §9§ भाविक, §10§ विशेष

3· न्यायमूलक

§क§ वाक्यन्यायमूलक

§1§ यथासंख्य, §2§ परिसंख्या, §3§ अर्थापत्ति, §4§ विकल्प, §5§ समुच्चय ।

§ख§ लोकव्यवहार मूलक

§1§ परिवृत्ति, §2§ प्रत्यनीक, §3§ तद्गुण, §4§ समाधि, §5§ सम, स्वभावोक्ति, §6§ उदात्त, §7§ विनोक्ति ।

§ग§ तर्कन्यायमूलक

§1§ काव्यलिङ्ग, §2§ अनुमान, §3§ अर्थान्तरन्यास ।

4· श्रृङ्खलावैचित्र्यमूलक

§1§ कारणमाला §2§ एकावली §3§ मालादीपक §4§ सार

5· अपह्नवमूलक

§1§ व्याजोक्ति, §2§ वक्रोक्ति, §3§ मीलन अथवा मीलित ।

इस प्रकार रूद्रट, रूय्यक, विद्याधर, विद्यानाथ आदि आचार्यों ने अलङ्कारों से वर्गीरश्रण प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त आचार्यों के अलङ्कार-वर्गीकरण में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं है। रूय्यक ने यदि किसी अलङ्कार विशेष को एक वर्ग में रखा तो अन्य आचार्यों ने उसी अलङ्कार को किसी दूसरे वर्ग में परिगणित किया। कुछ नवीन वर्गों की कल्पना भी हुई। उक्त आचार्यों के द्वारा जितने भी अलङ्कार वर्गों की कल्पना की गयी है उन सभी वर्गों को मिलाकर वर्गीकरण के आधार को और व्यापक अवश्य बनाया जा सकता है, लेकिन किसी भी वर्गीकरणों को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त वर्गीकरणों में आचार्य रूय्यक का जो अलङ्कार वर्गीकरण है वह अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उनके वर्गीकरण में अधिकतर अलङ्कारों का समावेश हो जाता है जो कि वर्गीकरण की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सादृश्य और विरोध

सादृश्य और विरोध में क्या अन्तर है यह जानने से पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में सादृश्य क्या है, और विरोध क्या है। सादृश्य-भिन्न भिन्न वस्तुओं में धर्म अथवा धर्मों की असाधारणता के आधार पर सादृश्य होता है- "तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्" इससे यह बात स्पष्ट होती है

"चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वम् मुखे चन्द्रसादृश्यम्।"

यहाँ मुख तथा चन्द्र दो वस्तुएँ हैं परन्तु उन दोनों में आह्लादकता साधारण धर्म के रूप में विद्यमान है। अत: यह कहा जा सकता है कि "चन्द्र" तथा "मुख" इन दोनों वस्तुओं में सादृश्य है। धर्मों की साधारणता को अभेद भी कहा जा सकता है। इस प्रकार सादृश्य में भेद भी होता है और अभेद भी। जैसे-"नेत्र कमल के समान सुन्दर है" तथा "नेत्र-कमल" ये दोनों उदाहरण क्रमश: उपमा और रूपक के है। इसमें नेत्र और कमल दोनों में सादृश्य बताना कवि का उद्देश्य होता है लेकिन इन दोनों उक्तियों का अर्थ अलग अलग है यह बात नहीं मानी जा सकती। दोनों उदाहरणों में नेत्र को कमल के समान सुन्दर बताना ही अभीष्ट है। "नेत्र कमल के समान सुन्दर है" उपमा के इस उदाहरण में नेत्र और कमल इन दोनों का भेद तथा अभेद समान रूप से व्यक्त है तथा "नेत्र कमल" रूपक के इस उदाहरण में नेत्र और कमल इन दोनों के बीच अभेद की प्रधानता हो गयी है। दोनों उक्तियों का मूल तत्त्व यद्यपि एक ही है परन्तु उसकी उक्ति की विलक्षणता के आधार पर ही उनकी पृथक् पृथक् अस्तित्व की भी कल्पना की गयी है।

इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गयी कि सादृश्य में भेद भी होता है और अभेद भी तथा सादृश्य के विषय में यह बात जान लेना और भी आवश्यक है कि सादृश्य के मूल में कुछ सामान्य और कुछ विशेष की कल्पना अनिवार्य रूप से रहती है। दो वस्तुओं में सादृश्य बताने के लिए दोनों के बीच कुछ सामान्य और कुछ विशेष की कल्पना आवश्यक होती है । यही बात रूय्यक के उक्त कथन से भी सिद्ध होती है- "यत्र किं यत्सामान्यंकश्चिच्चविशेष: स विषय: सदृशताया:"

अत: सादृश्य में सामान्य तथा विशेष ये दोनों तत्त्व समान रूप से विद्यमान रहते हैं। धर्मों की साधारणता से सामान्य तत्त्व बनता है तथा उनकी असाधारणता से विशेष तत्त्व कहने का अभिप्राय यह है कि यदि दो वस्तुओं में किसी सामान्य की कल्पना न की जाय तो दोनों के सादृश्य की भी कल्पना करना असम्भव है और यदि दो वस्तुओं में केवल सामान्य की ही कल्पना हो विशेष की कल्पना ही न हो तो उन दोनों में कोई भेद न होने के कारण वे आपस में भिन्न भी नहीं मानी जा सकतीं। इस प्रकार अभिन्न वस्तुओं में सादृश्य की न तो कल्पना ही की जा सकती है और न ही ऐसी वस्तुओं में सादृश्य की कल्पना का कोई अर्थ ही होगा। अब हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्य तत्त्व क्या है तथा विशेष तत्त्व क्या है। सामान्य तत्त्व का ही दूसरा नाम साधर्म्य तथा विशेष तत्त्व का दूसरा नाम वैधर्म्य है। साधर्म्य का अभिप्राय समान धर्म से है तथा वैधर्म्य का विपरीत धर्म से। साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनों के मिलने से ही सादृश्य का जन्म होता है उदाहरणार्थ "गौरिव गवय:" यह सादृश्य का उदाहरण है तथा कुछ धर्म ऐसे है जिनके कारण वैधर्म्य तथा यहाँ साधर्म्य तथा वैधर्म्य इन दोनों के मिलने से सादृश्य है।

सादृश्य के लिए साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों तत्त्वों की अपेक्षा होती है। इसके लिए साधर्म्य का क्षेत्र इतना विस्तृत भी नहीं होना चाहिए कि वह समस्त धर्मों को आत्मसात् कर ले क्योंकि इस स्थिति में तो कोई भी ऐसा धर्म शेष नहीं रह जाएगा। जिसके आधार पर वैधर्म्य की कल्पना की जा सके वैधर्म्य तत्त्व के अभाव में सादृश्य भी नहीं हो सकेगा। अत: इस अवस्था को जिसमें वैधर्म्य तत्त्व का सर्वथा तादूप्य कहा जाता है जो कि साधर्म्य की अत्यन्तविस्तृत अवस्था

है उदाहरणार्थ "मुखं" कमलमस्ति" अर्थात् मुख कमल है यहाँ वैधर्म्य तत्व का अभाव है। मुख कमल के तद्रूप है। नैय्यायिकों के मतानुसार सादृश्य तथा साधर्म्य एक ही है। वे दोनों को अलग-अलग वस्तु नहीं मानते । परन्तु उनका यह मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वामानाचार्यरामभद्टझलकीमट ने भी सादृश्य तथा साधर्म्य दोनों में भेद है यह बात स्पष्ट रूप से कही है। उनके मतानुसार-

सादृश्य में हमारी दृष्टि एक वस्तु के दूसरी वस्तु से सम्बन्ध पर केन्द्रित रहती है। इस प्रकार सादृश्य में उपमेयअनुयोगी होता है तथा उपमान प्रतियोगी होता है। उन्होंने साधर्म्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है-

"समान: एक: तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरुभोययो: {अर्थादुपमानोपमेययो:} तौ सधर्माणौतयोर्भाव: साधर्म्यम्।"

"उपमानोपमेययो: समानेन धर्मेण सह सम्बन्ध" इत्यर्थ:। यह बात कहकर उन्होंने साधर्म्य को और भी स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने "समानेन धर्मेण" का अर्थ "समान धर्म के साथ न लेकर" समान धर्म के कारण" यह लिया है। वैसे संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है कि दो वस्तुओं में समान धर्म का होना साधर्म्य है। अत: जिस प्रकार से समान धर्म के कारण साम्यं होता है उसी प्रकार साधर्म्य भी सादृश्य का कारण तो है, परन्तु साधर्म्य-ज्ञान और सादृश्य-ज्ञान की स्थिति भिन्न है। सादृश्य ज्ञान, साधर्म्य ज्ञान के बाद होता है। किसी भी वस्तु का पहले साधर्म्य ज्ञात होता है उसके बाद वैधर्म्य।

इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गयी कि दो सदृश वस्तुओं में समान धर्म का सम्बन्ध साधर्म्य कहलाता है। साधर्म्य पद उपमेय के साथ धर्म के सम्बन्ध का बोध तो कराता ही है साथ ही साथ उपमानभूत वस्तु के साथ उपमेय के समान धर्म

सम्बन्ध अर्थात् उपमेय के साथ उसका जो समान धर्म सम्बन्ध है उसका भी बोध कराता है। इसके विपरीत वैधर्म्य वस्तुओं के बीच असमान धर्म का सम्बन्ध है। यही कारण है कि जिन अलङ्कारों में सादृश्य होता है उन्हें सादृश्य मूलक तथा जिनमें वैधर्म्य होता है उन्हें विरोधमूलक अलङ्कार कहा जाता है।

यदि विरोध को सादृश्य का उल्टा कहा जाय तो यह बात युक्ति संगत नहीं प्रतीत होती । उदाहरणार्थ विरोधअलङ्कार में ही यद्यपि उसका मूल तत्व विरोध ही है, परन्तु उसमें भी विरोध की प्रतीति तो होती है। परन्तु वह विरोध वास्तविक नहीं होता उस विरोध का भी परिहार हो जाता है, और जब विरोध का परिहार हो जाता है तो हम उसे फिर विरोध या विरोधमूलक अलङ्कार भी नहीं रह पायेंगे। सादृश्य एवं विरोध भिन्न तत्व है, जिन पर आधारित अनेकों अलङ्कारों में मूल तत्व के एक होने पर भी उक्ति की विलक्षणता के आधार पर ही उनके पृथक-पृथक अस्तित्व की कल्पना की जाती है। उसी प्रकार सादृश्य और विरोध विपरीत नहीं है। सादृश्य में भी साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों की अपेक्षा होती है। बिना वैधर्म्य के सादृश्य की भी कल्पना नहीं हो सकती और वैधर्म्य का तात्पर्य भी विरोध से ही है। काव्य में विरोध की जो स्थिति है वह अन्त तक बनी नहीं रहती है। विरोध बोध कालान्तर में समाप्त हो जाता है इसी कारण इसे विरोधाभास भी कहते हैं। यह विरोध दो प्रकार का होता प्ररूढ विरोध तथा अप्ररूढ विरोध। जो विरोध अन्त तक बना रहता है वह अप्ररूढ विरोध कहलाता है। प्ररूढ विरोध जो है वह दोष का विषय होता है। जहाँ पर अप्ररूढ विरोध होता है वहीं अलङ्कार माना जाता है अर्थात् अप्ररूढ विरोध ही अलङ्कार का विषय होता है इसमें विरोध की प्रतीति पार्यन्तिक न होकर प्रातिभासिक होती है। अतः काव्य में विरोध को सादृश्य का उल्टा

मानना समीचीन नहीं है, सादृश्य और विरोध एक दूसरे के पूरक ही है। विरोध के अभाव में सादृश्य का भी कोई अस्तित्व नहीं है। सादृश्य में दो सादृश्य वस्तुओं में समान धर्म का सम्बन्ध दिखाया जाता है तथा विरोध में दो वस्तुओं में असमान धर्म का सम्बन्ध दिखाया जाता है। यही अलङ्कारों की विरोध मूलकता का भेदक तत्त्व है और इसी आधार पर हम विरोध मूलक अलङ्कारों को पृथक रूप से वर्गीकृत कर उनका विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

तृतीय - अध्याय

विरोधमूलक

अलङ्कार-विवेचन

विरोध

तृतीय - अध्याय

विरोधमूलक अलङ्कार-

"विरोधमूलक अलङ्कार" का तात्पर्य उन अलङ्कारों से है जिन अलङ्कारों के मूल में विरोध की भावना निहित रहती है। वास्तव में इस वर्ग के अलङ्कारों का मूल तत्व विरोध है। जैसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों का मूल बीज उपमा है उसी प्रकार विरोधमूलक अलङ्कारों कामूल बीज विरोध है। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में जो स्थान उपमा अलङ्कार का है वही स्थान विरोधमूलक अलङ्कारों में विरोध का है। विरोधमूलक अलङ्कारों में जो विरोधमुखेन उपस्थापित अर्थ है वह वर्ण्यवस्तु में विशेष चमत्कार ला देता है। विरोधमूलक अलङ्कारों का विवेचन करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि विरोधमूलक अलङ्कार कौन कौन से हैं। जिन अलङ्कारों की गणना विरोधमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत की गयी है वे निम्नलिखित हैं--

1. विरोध
2. विभावना
3. विशेषोक्ति
4. अतिशयोक्ति
5. असङ्गति
6. विषम
7. सम
8. विचित्र

9· अधिक

10· अन्योन्य

11· विशेष

12· व्याघात

विरोध अलङ्कार

"विरोध" अलङ्कार विरोधमूलक अलङ्कारों में प्रथम एवं प्रधान है। "विरोध" जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है विरोध का अर्थ है परस्पर विरोधी पदार्थों के एकत्र संसर्ग वर्णन की धारणा। जो भी पदार्थ इस रूप में प्रसिद्ध हों कि वह एक आश्रय के रूप में रहने वाले नहीं हैं परन्तु उनका वर्णन एक आश्रय के ही रूप में रहने वाले अर्थात् एकाश्रयवर्ती के रूप में किया जाय तो वह वर्णन "विरोध" कहलाता है।

कुछ आचार्यों ने "विरोध" अलङ्कार को ही "विरोधाभास" अलङ्कार की संज्ञा से भी अभिहित किया है। विरोधाभास में वस्तुओं के विरोध का केवल आभास (मिथ्या-प्रतीति) रहता है। "आभास" शब्द का अर्थ है- ईषत् अर्थात् थोड़ा भासित होने वाला। "विरोधाश्चासौ आभास: "इस कर्मधारय समास के द्वारा "विरोधाभास" पद का अर्थ हो जाता है- थोड़ा भासित होने वाला विरोध। वास्तव में उस विरोध को अलङ्कार कहा जाता हैजहाँ आरम्भ में तो विरोध की प्रतीति हो परन्तु शीघ्र ही (अग्रिम क्षण) होने वाले अविरोध ज्ञान से वह (विरोध) निराकृत हो जाय। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि वास्तविक विरोध का वर्णन दोषावह और आभास रूप विरोध का वर्णन

अलङ्कार कहा जाता है।

विरोधाभास में परस्पर विरुद्ध जान पड़ने वाली बातों में वास्तव में तात्त्विक अविरोध की धारणा निहित रहती है जिस प्रकार सादृश्यमूलक अलङ्कारों में "सादृश्य" अलङ्कारों का मूलभूत तत्त्व है उसी प्रकार विरोध भी अनेक अलङ्कारों का मूलभूत तत्त्व है। अतः कुछ आचार्य विरोध नामक स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना उचित नहीं मानते। वे विरोध को अनेक अलङ्कारों को अनुप्राणित करने वाला तत्त्व ही मानते हैं। इस प्रकार कुछ आचार्यों ने विरोध का विरोधाभास के पर्याय के रूप में प्रयोग कर दिया है।

आचार्य भामह ने विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिए गुण, क्रिया आदि का विरुद्ध क्रिया से वर्णन विरोध का लक्षण माना है, वे विरोध को आत्त्विक मानकर केवल उसका आभास ही अपेक्षित मानते थे। उद्भट ने भी इसी मत को स्वीकार किया परन्तु आचार्य दण्डी ने विरोध लक्षण में विरुद्ध पदार्थों का संसर्ग प्रदर्शन अपेक्षित माना था। इसी धारणा ने पीछे चलकर विरोधाभास से स्वतन्त्र विरोध अलङ्कार को जन्म दिया। टीकाकारों ने विशेष दर्शनायैव" के आधार पर आचार्य दण्डी के विरोध लक्षण का अर्थ यह माना है कि वास्तविक विरोध के न होने पर भी केवल विशेष दिखाने के लिए विरुद्ध से लगने वाले पदार्थों की संघटना विरोध (वस्तुतः विरोधाभास) है। वामन ने भी विरोधाभास को ही विरोध कहा है।

मम्मट ने भी वास्तव में विरोध न होने पर भी विरुद्ध रूप से जो वर्णन होता है यह विरोध अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत किया है। पण्डितराज जगन्नाथ

के मतानुसार एक आश्रय से असंबद्धता अथवा उस तरह का दो वस्तुओं के विषय में होने वाला उस एक आश्रय असंबद्धता का ज्ञान "विरोध" कहलाता है। कहने का भाव यह है कि जो दो पदार्थ एक आश्रय में नहीं रहने वाले के रूप में प्रसिद्ध हो उन दो पदार्थों का एकाश्रयवर्ती के रूप में किया जाने वाला वर्णन विरोध कहलाता है।

उपर्युक्त लक्षण का विवेचन करते हुए पण्डितराजजगन्नाथ ने यह बात भी स्वीकार की है कि वास्तव में यह विरोध दो प्रकार का होता है-- प्ररूढ़ विरोध तथा अप्ररूढ़ विरोध। जो विरोध बाध ज्ञान से अभिभूत न हो वह प्ररूढ़ विरोध कहलाता है तथा जो विरोध बाध-बुद्धि से तिरस्कृत हो जाय वह अप्ररूढ़ विरोध कहलाता है। इन दो प्रकार के विरोधों में प्ररूढ़ विरोध जो है वह दोष का विषय है तथा अप्ररूढ़ विरोध अलङ्कार का लक्ष्य है। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि जहाँ दो पदार्थों में वास्तव में विरोध की धारणा निहित हो तो वह वर्णन दोषावह समझा जाता है परन्तु वास्तव में विरोध न होकर यदि विरोध की आभासत्वेन प्रतीति अर्थात् विरोध का आभास मात्र होता है (पहले विरोध की प्रतीति हो और बाद में उस विरोध का परिहार हो जाय तो आभास रूप विरोध का वर्णन अलङ्कार होता है।)

रुद्रट, मम्मट, रूय्यक, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने विरोध अलङ्कार के दस भेद स्वीकार किये हैं। उनके मतानुसार जाति का जाति आदि अर्थात् जाति गुण क्रिया तथा द्रव्य चार के साथ विरोध हो सकता है, गुण का गुणादि अर्थात् गुण, क्रिया तथा द्रव्य तीन के साथ, क्रिया का क्रिया तथा द्रव्य दो के साथ और द्रव्य का केवल द्रव्य के साथ विरोध हो सकता है। इस प्रकार

विरोध अलङ्कार के दस भेद होते हैं।

§1§ जाति का जाति के साथ विरोध

उदाहरण-

> अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशि: ।
>
> सुभग ! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगविपाते ।।

हे सुभग ! दैवात् तुम्हारे वियोगरूप वज्र के गिरने पर उस §नायिका§ के लिए नूतन कमलिनी के पत्ते और मृणाल के वलय आदि §जो उसकी गर्मी को शान्त करने के लिए प्रयुक्त किये जाते है§

प्रस्तुत उदाहरण में नलिनीकिसलय, मृणालवलय आदि जाति शब्द हैं और दवदहन भी जातिवाचक शब्द है। यहाँ इन दोनों जातिवाचक शब्दों का विरोध है। नलिनी किसलय या मृणालवलय कभी दहनरूप नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार यहाँ जाति का जाति के साथ विरोध है। परन्तु नलिनीकिसलयादि में भी विरहोद्दीपक तथा औपचारिक दहनत्व मानकर उस विरोध का परिहार किया जा सकता है। इसलिए यह विरोध या विरोधाभास अलङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण है।

§2§ जाति का गुण के साथ विरोध

उदाहरण--

> गिरयोऽप्युन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीरा: ।
>
> विश्वम्भराऽप्यतिलघुर्नरनाथ ! तवान्तिके नियतम् ।।

हे राजन्! आपके सामने पर्वत भी निश्चित रूप से छोटे हो जाते हैं, वायु भी अचल, समुद्र भी गम्भीरता रहित और पृथ्वी भी निश्चय ही हल्की हो जाती है।

उपर्युक्त उदाहरण में गिरि आदि जातिवाचक शब्द हैं तथा अनुन्नत्वादि गुणवाचक शब्द है। यहाँ गिरि आदि जातिवाचक शब्दों का जो अनुन्नत्वादि वर्णित है उनमें जाति का गुण के साथ विरोध दिखलाया उसका अभिप्राय राजा की उन्नति के वर्णन से है। अतः विरोध का परिहार हो जाने से यह विरोधाभास के दूसरे भेद का उदाहरण है।

§3§ <u>जाति का क्रिया के साथ विरोध</u>

<u>उदाहरण--</u>

> येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां सम्प्राप्य धाराधर-
> स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं पराप्नोति च ।
> तेषां सङ्गरसङ्गसक्तमनसां राज्ञं त्वया भूषते ।
> पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ।।

हे राजन्! आपकी जो तीक्ष्ण §निष्ठुर§ तलवार §धाराधरः खड्ग§ है वह भी जिन §शत्रु राजाओं§ के गले का आलिङ्गन करके अनुरक्त §अनुरागयुक्त और दूसरी ओर खून से लाल§ हो जाती है और किसी अपूर्व स्नेह §प्रेम तथा रक्त से प्राप्त कच चिक्कणता§ को प्राप्त हो जाती है। युद्धभूमि के लिए उत्सुक उन §राजाओं§ को आप धूल में मिलाने का काम करते हैं यह आश्चर्य की बात है।

इस उदाहरण में धाराधर अर्थात् अङ्ग जाति वाचक शब्द है और अनुराग तथा स्नेह प्राप्ति रूप क्रिया के साथ विरोध दिखलाया गया है परन्तु उनका रुधिरसम्पर्ककृत लौहित्य तथा चिक्कणतापरक अर्थ करने पर उस विरोध का परिहार हो जाता है इसलिए यह विरोध अलङ्कार के तीसरे भेद का उदाहरण है।

§ 4 § जाति का द्रव्य के साथ विरोध

उदाहरण -

सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ।।

जो इस जगत् को अनायास ही बनाते, रक्षा करते और बिगाड़ते हैं वे जनार्दन भी कालवश मछली §मत्स्यावतार§ बन जाते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है।

इस उदाहरण में जो जनार्दन है वे मछली कैसे हो सकते हैं यह शफरत्व जाति का जनार्दन रूप द्रव्य से विरोध है परन्तु भगवान् की लीला से सब कुछ सम्भव है इसलिए वे मत्स्यावतार भी धारण कर लेते हैं। इस प्रकार से अर्थ करने पर उस विरोध का परिहार हो जाता है इस प्रकार यह विरोध-अलङ्कार के चौथे भेद जाति का द्रव्य के साथ विरोध का उदाहरण है।

§5§ गुण का गुण के साथ विरोध

उदाहरण-

सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ।

द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ।।

हे राजन् सदैव मूसल में लगे रहने वाले और नानाप्रकार के घर के कामों को करने से कठोर पड़े हुए ब्राह्मणों की स्त्रियों के हाथ आपके होने पर कमल के समान हो रहे हैं ‖ अर्थात् आपने ब्राह्मणों को इतना दान दिया है कि अब उनकी पत्नियों को कोई काम नहीं करना पड़ता है, इसलिए उनके हाथ कमल के समान कोमल हो गये हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में कठिनत्व और सुकुमारत्व गुणों का विरोध है। तथा आप के होने पर अर्थात् आपके दिए हुए दान के कारण अब उनकी पत्नियों को कोई काम नहीं करना पड़ता है इसलिए उनके हाथ सुकुमार हो गये है यह अर्थ करने पर इस विरोध का परिहार हो जाता है अतः यह विरोध अलङ्कार के पाँचवें भेद गुण का गुण के साथ विरोध का उदाहरण है।

‖6‖ गुण का क्रिया के साथ विरोध

उदाहरण--

पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम् ।

परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत् प्रमोदयति ।।

दुष्ट पुरुषों का मधुर वचन भी ‖उस मधुर भाषण के ‖ रहस्य को समझने वालों के मन को अत्यन्त सन्तप्त करता है। और सज्जन पुरुषों का कठोर वचन भी ‖उस कठोरता‖ के रहस्य को जाननेवालों‖ चन्दन के रस के समान आनन्दित करता है।

प्रस्तुत उदाहरण में पेशलत्व और परुषत्व गुण है तथा दाह और प्रमोदन क्रिया है। यहाँ पेशलत्व गुण का दाह क्रिया के साथ आपाततः विरोध होता है। और वक्ताओं के बलत्व तथा युवावत्व के द्वारा उस विरोध का परिहार हो जाता है। अतः यह विरोध अलङ्कार के छठे भेद का उदाहरण है।

{7} गुण का द्रव्य के साथ विरोध

उदाहरण--

क्रौंचाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।

अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ।।

बड़ी बड़ी कठोर शिलाओं से दुर्भेद्य यह क्रौंच नामक पर्वत भी जिन {परशुराम} के अप्रतिहत वज्र के समान तीक्ष्ण बाणों की वृष्टि से नवीन कमल के पत्ते के समान कोमल {सुभेद्य} हो गया वे भार्गव {परशुराम} सचमुच ही लोकोत्तर पुरुष हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में कोमलत्वगुण का क्रौंचादिद्रव्य के साथ आपाततः विरोध प्रतीत होता है। परन्तु परशुराम के प्रताप से वह सुभेद्य हो गया इस रूप से उस विरोध का परिहार हो जाता है अतः यह विरोध अलङ्कार के सातवें भेद का उदाहरण है।

{8} क्रिया का क्रिया के साथ विरोध

उदाहरण--

> परिच्छेदव्यातीत: सकलवचनानामविषय:
>
> पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं योन गतवान् ।
>
> विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
>
> विकार: कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ।।

कोई अद्भुत [प्रकार का कामज] विकार, जिसकी व्यापकता [अथवा समाप्ति] का कोई ठिकाना नहीं है, जो किसी प्रकार शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता है, जो इस जन्म में और कभी अनुभव में नहीं आया, और विवेक का समूल नाश करके महान् अज्ञान को बढ़ाकर दुर्लंध्य हो गया है इस प्रकार का कोई अनिर्वचनीय [कामज] विकार अन्त:करण को विवेकशून्य[जड़] बना रहा है और सन्ताप दे रहा है।

इस उदाहरण में "जडयति च तापं च कुरुते इन दोनों क्रियाओं का विरोध है। परन्तु विरह के वैचित्र्य से कालभेद से उसका विरह कभी सन्तापदायक होता है और कभी उसकी स्मृति आनन्ददायक हो उठती है यह अर्थ करने पर उस विरोध का परिहार हो जाता है अत: यह विरोध अलङ्कार के आठवें भेद का उदाहरण है।

[9] क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध

उदाहरण--

> अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
>
> श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधि: ।

क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं

क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ।।

यह [समुद्र] जल का एक [अपूर्व या] मुख्य आगार है और रत्नों का आकर है ऐसा समझकर तृष्णा से व्याकुल मन होकर हमने इसका आश्रय लिया था । पर यह किसको मालूम था कि अपने हाथ की अंजलि के कोने में समाये हुए और बड़े बड़े मगरमच्छ जिसमें तड़फड़ा रहे हैं ऐसे इस [समुद्र] को [अगस्त्य] मुनि निक देर में ही सोख जायेंगे ।

प्रस्तुत उदाहरण में अगस्त्यमुनि द्वारा समुद्र का पी जाना आपाततः असम्भव होने से पानक्रिया का अगस्त्य तथा समुद्ररूप दोनों द्रव्यों के साथ विरोध प्रतीत होता है। अतः यह विरोध अलङ्कार के नौवें भेद का उदाहरण है।

[10] द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध

उदाहरण–

समदमतङ्गजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।

क्षितितिलक ! त्वयि तटभुवि शङ्करचूडापगापि कालिन्दी ।।

हे राजन् । आपके किनारे उपस्थित होने पर [अर्थात् गङ्गानदी के किनारे आपकी सेना का पड़ाव पड़ने से आपकी सेना के] मदयुक्त हाथियों के मदजल के प्रवाह से उत्पन्न [मदधारा की कृष्णवर्ण] नदी के [धारा में] मिल जाने से [शिवजी के मस्तक पर रहने वाली] गङ्गा नदी भी [जल के कृष्णवर्ण हो जाने से] यमुना बन गयी है।

इस उदाहरण में गङ्गा और यमुना नदी रूप द्रव्यों का परस्पर विरोध है। जो गङ्गा है वह यमुना नहीं हो सकती है परन्तु मदजल की श्यामता से गङ्गा यमुना-सी अर्थात् गङ्गा भी यमुना की तरह श्याम हो जाती हैं, यह अर्थ करने पर उस विरोध का परिहार हो जाता है। अतः यह विरोध अलङ्कार के दसवें भेद का उदाहरण है।

विरोध अलङ्कार के उपर्युक्त दस भेदों का प्रतिपादन यद्यपि आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है, परन्तु उन्होंने विरोध अलङ्कार के विषय में अपने मत का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि वास्तव में जाति गुण आदि के आधार पर विरोधमूलक अलङ्कार के जो भेद किए गये हैं उचित नहीं है क्योंकि इन भेदों में कोई विशेष चमत्कार नहीं है। अतः उसके वास्तविक भेद दो ही हैं-- 1. शुद्ध और 2. श्लेषमूलक ।

विरोध अलङ्कार के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों का मत है कि जहाँ विरोध का द्योतक "अपि" आदि शब्द रहता है वहाँ विरोध शाब्द कहलाता है और अन्य स्थानों पर अर्थात् "अपि" आदि विरोधद्योतक शब्द का प्रयोग जहाँ नहीं होता वह विरोध "अर्थ" कहलाता है।

"शाब्द" होने का तात्पर्य शब्द द्वारा होने वाली प्रतीति का विषय होना नहीं है। वास्तव में "शाब्द" पद का यह अर्थ है कि जिसकी प्रतीति शब्द के द्वारा हो परन्तु यह बात विरोध के विषय में घटित नहीं होती अर्थात् अपि शब्द के रहने पर भी सर्वत्र विरोध की प्रतीति शब्द के द्वारा नहीं होती उदाहरणार्थ "त्रयोऽप्यत्रयः" तीन तीन से भिन्न है अथवा तीनों ही अत्रिवंशीय हैं इत्यादि

स्थलों में अ उपसर्ग न अर्थक न होने से विरोध का भान ही नहीं होता, अपितु विशेष्यभूत तीनों अग्नि भी यह निश्चित अर्थ ही ज्ञात होता है। कहने का भाव यह है कि इन स्थलों में विरोध की प्रतीति शब्द द्वारा नहीं होती अर्थात् जहाँ नियमत: शब्द द्वारा प्रतीति होने वाले विशेषण, विशेष्य और उन दोनों के सम्बन्ध इन तीनों में से किसी के अन्दर विरोध समाविष्ट नहीं होता।

स्पष्ट रूप से यह कहा जा, सकता है कि बालकोऽपि पुराणपुरुष:" इत्यादि जो शुद्ध विरोध के उदाहरण हैं उनमें "पुराणपुरुष" अपिशब्द के विरुद्ध अर्थ को लेकर ही अन्वय बोधक होता है यही कारण है कि वहाँ विरोध शाब्द कहा जा सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में बालक बालकत्व से विरुद्ध पुराणपुरुषत्व वाले से अभिन्न है इस ज्ञान के अन्तर्गत जो विशेषण अंश है उसमें विरोध समाविष्ट होता है परन्तु "त्रयोऽप्यत्रय: इत्यादि जो उदाहरण हैं जिन्हें श्लेषमूलक विरोध के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उनमें तो द्वयर्थक (अत्रि" पद के अत्रिकुलोत्पन्न रूप अविरुद्ध अर्थ के साथ ही अन्वय बोध होता है, बल्कि "त्रित्वसंख्याविशिष्ट से भिन्न यह जो विरुद्ध अर्थ है इस विरुद्ध अर्थ के साथ अन्वय बोध नहीं होता है। अत: यहाँ तीनों अत्रिकुलोत्पन्न से अभिन्न ऐसा ज्ञान होने पर विशेषण विशेष्य और संबंध में समाविष्ट न होने के कारण इस प्रकार के विरोध को शाब्द विरोध नहीं कहा जा सकता।

अब जब यह बात स्पष्ट हो गयी कि अपि आदि शब्द के रहने पर भी सभी जगह विरोध शाब्द नहीं होता तो यहाँ पर एक शङ्का उठना स्वाभाविक है कि "अपि" आदि शब्द के रहने पर विरोध शाब्द होता है यह बात जो कही गयी है यह कैसे संगत हो सकती है।

उपर्युक्त शंका का समाधान प्राचीन आचार्यों ने किया है उनके मतानुसार "सुप्तोऽपि प्रबुद्ध:" "त्र्योऽप्यत्रय:" इत्यादि जो उदाहरण हैं इन उदाहरणों में "सुप्त" तथा "प्रबुद्ध" इन दोनों पदों के द्वारा पहले तो "शयित्व" और "जागरित्व" आदि इन दो धर्मों की उपस्थिति होती है जब इन दो धर्मों की उपस्थिति होती है तो उन दोनों धर्मों में रहने वाला जो परस्पर विरोध है उनके परस्पर के विरोध की भी स्मृति हो जाती है क्योंकि यह नियम है कि एक संबन्धी का ज्ञान दूसरे संबंधी का स्मारक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ "त्र्योऽप्यत्रय: तथा "सुप्तोऽपि प्रबुद्ध: इत्यादि जो विरोध के उदाहरण हैं इन उदाहरणों में उक्त, दोनों पदों के द्वारा "शयित्व " और "जागरित्व " आदि दोनों धर्मों की उपस्थिति होती है, जिससे सम्बन्धिज्ञान होता है। विरोध सम्बन्ध है तथा उस सम्बन्ध के प्रति उक्त दोनों पद सम्बन्धी हैं और उनका ज्ञान ही सम्बन्धिज्ञान है। उन दोनों सम्बन्धियों के मध्य अपि शब्द के सान्निध्य से विरोध का भी स्मरण हो जाता है ।

इस प्रकार "शयितत्व" और "जागरितत्व" एक अधिकरण में नहीं रह सकते इस प्रकार के प्रतिबन्धक ज्ञान के द्वारा, जो प्रबलतर है "यह दोनों धर्म परस्पर विरूद्ध हैं इस तरह का विरोध-विषयक बोध ही पहले होगा। यह बोध यद्यपि अभिधिक नहीं होता, बल्कि यह मानसिक या वैयंजनिक होता है। इस प्रकार विरोधबोध से प्रतिबद्ध हो जाने के कारण "शयितत्व" और "जागरितत्व" में अभेद भेद नहीं होने पाता। फिर "प्रबुद्ध"पदगत द्वितीय अभिधा से प्रादुर्भूत किया गया द्वितीय अर्थ-प्रकृष्टज्ञानवत्त्व को लेकर अन्वय बोध होता है और विरोध समाप्त हो जाता है अथवा विरोधज्ञान का मूल शिथिल पड़ जाता है फिर भी कवि का प्रयास इस

विरोध के उत्थान के लिए ही हुआ करता है। इसलिए वह विरोधवान चमत्कार का कारण होता है।

नवीन आचार्यों के मतानुसार दो अर्थों के प्रादुर्भाव के बिना विरोधाभास हो ही नहीं सकता और उन दोनों अर्थों में से भी एक अर्थ विरोध को उत्पन्न करने वाला होता है और दूसरा अर्थ इसको समन्वित करने वाला होता है। अतः वह अन्वयबोध का विषय होता है। यह बात निर्विवाद है परन्तु दूसरा अर्थ जो अन्वय बोध का विषय होता है उसमें विरोध को उत्पन्न करने वाला पहला अर्थ भी अभिन्न रूप से भासित होता रहता है। यद्यपि जो पहला अर्थ है वह दूसरे अर्थ से भिन्न होता है परन्तु श्लेष के कारण वह अभेदाध्यवसित हो जाता है और इस प्रकार अविरूद्ध दूसरे अर्थ को लेकर अन्वय बोध होने पर भी पहले उपस्थित हुआ जो विरोधी अर्थ है वह पूर्णतया निवृत्त नहीं होता, बल्कि वह विरोध भी साँस लेते हुए अर्धमृत व्यक्ति के समान मानस बोध का विषय बन जाता है। यही कारण है कि वह चमत्कारी कहा जाता है।

प्राचीन आचार्यों की भी ऐसी मान्यता है कि जो विरोध सर्वथा निवृत्त हो जाये वह चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकता और जो चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकता वह अलङ्कार नहीं हो सकता अर्थात् चमत्कारजनक न होने के कारण उसकी गणना अलङ्कार के रूप में नहीं हो सकती। अतः विरोध के स्थल में यही बात उपयुक्त लगती है कि न तो विरोध पूर्णतया समाप्त ही होता है और न अन्त तक दृढ़ ही बना रहता है।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों और नवीन आचार्यों के मत में यह ही मुख्य भेद है कि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार अन्वयबोध के पश्चात् विरोधज्ञान पूर्णतया समाप्त हो जाता है परन्तु नवीन आचार्य ऐसा नहीं मानते उनके मतानुसार विरोध ज्ञान न तो पूर्णतया समाप्त ही होता है और न ही वह अन्त तक बना ही रहता है अर्थात् उस विरोध की आत्यन्तिक निवृत्ति भी नहीं होती है।

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में विरोध अलङ्कार का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें उत्प्रेक्षा की प्रधानता है।

उदाहरणार्थ-

> प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
> अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत ।।

"क्या विरोधी राजाओं की तरह इस राजा नल से डरकर परस्पर विरोधी गुणों ने भी अपना विरोध छोड़ दिया? क्योंकि राजा नल अपने तेज से मित्रजित् भी था साथ ही अमित्रजित् भी और चारदृक् भी था साथ ही विचारदृक् भी।

उपर्युक्त उदाहरण में जो व्यक्ति मित्रजित् है वह अमित्रजित् कैसे हो सकता है, साथ ही जो व्यक्ति चारदृक् है, वह विचारदृक् (विगतचारदृक्, चारदृक् से विहीन) कैसे हो सकता है, अतः यह विरोध है। लेकिन इस विरोध की प्रतीति केवल आपाततः ही है। यहाँ मित्रजयित्व और अमित्रजयित्व परस्पर विरोधी धर्म हैं वे दोनों धर्म एक में नहीं रह सकते, अर्थात् जो शत्रुओं को जीतने वाला है वह

मित्रों को जीतने वाला नहीं हो सकता इस तरह से विरोध की प्रतीति होती है। इस विरोध का समाधान इस अर्थ से होता है- राजा नल तेज से सूर्य तथा शत्रु राजा दोनों को जीतने वाला है इसी प्रकार "चारदृक्" से भी कवि का तात्पर्य यह है कि राजा नल "गुप्तचरों की आँख वाला था तथा विचारदृक् का यह अर्थ है कि वह विचार की आँखें वाला था। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह गुप्तचरों की दृष्टि वाला था तथा उनकी दृष्टि से रहित भी था। इस प्रकार विरोध का परिहार हो जाने पर इस अंश का वास्तविक अर्थ है- राजा नल समस्त राज्य की स्थिति का निरीक्षण गुप्तचरों के द्वारा किया करता था तथा हर निर्णय में विचारबुद्धि से काम लेता था।

इस पद्य के प्रारम्भ भाग में जो उत्प्रेक्षा है वह विरोध समाधानात्मिका है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ विरुद्ध धर्मों के द्वारा विरोध त्याग की सम्भावना की मानों विरुद्ध धर्मों ने भेदकता त्याग दी" इस रूप में होने वाली उत्प्रेक्षा है और इस उत्प्रेक्षा से विरोध का समाधान ही हो जाता है। अतः यहाँ पर विरोधत्याग की बात का जैसे ही पता लगता है धर्मों में विरोध ही नहीं रह जाता। यदि इस प्रकार की उत्प्रेक्षा बाद में की जाय तो उससे पहले विरोध का आभास हो भी सकता था परन्तु यहाँ तो पद्य के आरम्भ में ही उत्प्रेक्षा आ गयी है जिसके कारण विरोध का उत्थान ही नहीं होने पाता। फलतः जिस विरोध का उत्थान नहीं होता वह चमत्कार भी नहीं उत्पन्न कर सकता और चमत्कार उत्पन्न किये बिना वह अलङ्कार भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित के मत का खण्डन करते हुए स्पष्ट रूप से यह बात

कही है कि विरोध अलङ्कार वहीं पर माना जा सकता है जहाँ पहले विरोध की प्रतीति हो तथा विरोध की प्रतीति होने के बाद दूसरे अर्थ का बोध हो जाने पर उस विरोध का परिहार हो जाय। उनके मतानुसार अप्पय दीक्षित ने विरोध अलङ्कार का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उस उदाहरण में जिस उत्प्रेक्षा का आश्रय लेना पड़ता है उस उत्प्रेक्षा की भी प्रधानता है। अतः वह उत्प्रेक्षा प्रधान होने के कारण विरोध उत्पन्न ही नहीं होने देती। इसलिए जहाँ किसी प्रकार का विरोध ही नहीं उत्पन्न होता तो वहाँ विरोध अलङ्कार हो ही नहीं सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि 'प्रतीपभमैः इत्यादि उपर्युक्त उदाहरण में विरोध अलङ्कार नहीं है बल्कि उत्प्रेक्षा ही है या यह कहा जा सकता है कि यहाँ विरोधालंकार उत्प्रेक्षा का अङ्ग है। अलङ्कृतिपूर्ण गद्य-पद्य की रचना करने वाले कवियों में विरोध अलङ्कार बहुत प्रिय हुआ और उन्होंने इसका चमत्कारपूर्ण प्रयोग कर काव्य में एक विशेष सौन्दर्य की सृष्टि की। बाणभट्ट ने कादम्बरी में श्लेषानुप्राणित विरोध के सैकड़ों चमत्कारी प्रयोग प्रदर्शित किये हैं। अन्य गद्य-पद्य-कवियों ने भी अन्य अलङ्कारों के अतिरिक्त विरोध अलङ्कार के साथ श्लेष का प्रयोग कर काव्य में सौन्दर्यसृष्टि की है। वस्तुतः श्लेष विरोधाभास की उद्भावना में अत्यधिक सहायक है। जैसे कादम्बरी का प्रस्तुत उदाहरण द्रष्टव्य है--

"अपरिमित बहल पत्रसंचयापि सप्तपर्णभूषिता, क्रूरसत्वापि मुनिजनसेवित, पुष्पवत्यपि पवित्रा विन्ध्याटवी नाम्।" यहाँ विन्ध्याटवी के प्रसङ्ग में सप्तपर्ण सत्व एवं पुष्पवती शब्दों की श्लिष्टता यहाँ विरोध को व्यक्त करने में सहयोग करती है। आपाततः विन्ध्याटवी में स्त्रीत्व के रूप में पुष्पवती होकर भी

पवित्र होने में विरोध उपस्थित होता है, पद पर यह विरोध विन्ध्याटवी का वन के रूप में "फूलों से भरी" माला वैकल्पिक अर्थ लेकर विरोध का परिहार होता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विरोधमूलक अलङ्कारों में विरोध प्रमुख अलङ्कार है। यही कारण है कि सभी आचार्यों ने विरोधमूलक अलङ्कारों के निरूपण में सर्वप्रथम विरोध अलङ्कार का निरूपण किया है। विरोध अलङ्कार का मूल तत्व विरोध ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ आचार्यों ने विरोध की उक्ति को अलङ्कार माना है तथा कुछ ने विरोध की प्रतीति को। कुछ आचार्यों ने इसे विरोध अलङ्कार के नाम से स्वीकार किया है तथा कुछ ने विरोध की आभासत्वेन प्रतीति होने के कारण इसे विरोधाभास अलङ्कार की संज्ञा से भी अभिहित किया है। वस्तुत: विरोध की उक्ति हो अथवा प्रतीति, वह विरोध अलङ्कार ही है। इसी प्रकार नाम की दृष्टि से विरोध अथवा विरोधाभास के अभिधान में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि अन्तत: इस अलङ्कार में विरोध का आभास या मिथ्या प्रतीति ही होती है। विरोध के इस तत्व को मूल रूप में ग्रहण कर उक्ति वैचित्र्य के अन्यान्य अनेक प्रकार विकसित हुए, काव्य में उनके प्रयोग प्राप्त होते रहे और काव्यशास्त्री आचार्यों ने भी उनके विविध प्रकारों को ग्रहण कर अनेक अलङ्कारों के नये-नये नाम और रूप खोज डाले। अन्य अलङ्कारों के रूप में इन्हीं अलङ्कारों का आगे के अध्यायों में विवेचन है और उनमें प्राप्त होने वाले अलङ्कारों में विविध भूमिकाओं को धारण कर विरोध अलङ्कार रूप शैलूष ही विविध रूपों में व्याप्त हो रहा है।

चतुर्थ अध्याय

अलङ्कार-विवेचन

विभावना

विशेषोक्ति

कारणातिशयोक्ति

चतुर्थ - अध्याय

विभावना अलङ्कार -

विभावना विरोधमूलक अलङ्कार है। कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति विभावना है। विभावना अलङ्कार का लक्षण सर्वप्रथम आचार्य भामह ने प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार जहाँ क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी उस क्रिया के फल का प्रकट होना वर्णित हो वहाँ विभावना अलङ्कार होता है। दण्डी ने भी जहाँ {किसी कार्य के} लोकप्रसिद्ध कारण का अभाव दिखाकर {उस कार्य के प्रति} किसी अन्य कारण की विभावना की जाय अथवा स्वभावसिद्धता की कल्पना की जाय, वहाँ विभावना मानी है। उद्भट, वामन, कुन्तक आदि सभी आचार्यों ने भामह द्वारा स्वीकृत विभावना अलङ्कार के लक्षणों को ही स्वीकार करते हुए कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति को विभावना अलङ्कार माना है। मम्मट ने भी कारण का निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति को विभावना अलङ्कार का लक्षण माना है:-

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।।

कारण का {अभाव या} निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति {का वर्णन} होने पर विभावना {अलङ्कार कहलाता} है।

उदाहरणार्थ--

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यघूर्णत सा ।।

खिली हुयी लताओं से ताडित न होने पर भी वह [नायिका] पीड़ा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमर कुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी और कमलिनियों से युक्त लहरों के चक्कर में पड़े बिना भी चक्कर खा रही थी।

उपर्युक्त उदाहरण में लताओं की चोट पीड़ा का कारण हो सकती थी और भ्रमर का काटना तड़पने का कारण हो सकता था तथा कमलिनियों का लहरों के चक्कर में फँस जाना भी चक्कर आने का कारण हो सकता था। परन्तु जितने भी कारण बताये गये है उपर्युक्त कारणों के विद्यमान न होने पर अर्थात् उन कारणों का निषेध होने पर भी कार्य की उत्पत्ति दिखाई गयी है अर्थात् कार्य का प्रकाशन दिखाया गया है। इसलिए यह विभावना अलङ्कार का उदाहरण है।

रुय्यक ने भी कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति के वर्णन को विभावना माना। पण्डित राज जगन्नाथ ने भी मम्मट के ही मत का अनुसरण करते हुए कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति को विभावना मानकर उसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया हैं--

कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावना।।

जिस अधिकरण में जो कारण रहता है उस अधिकरण में उस कारण का कार्य उत्पन्न होता है। परन्तु जिस अधिकरण में जो कारण नहीं है उस अधिकरण में यदि उस कारण के कार्य की उत्पत्ति वर्णित हो तब उस कार्योत्पत्ति को विभावना अलङ्कार कहा जाता है।

विभावना अलङ्कार के उपर्युक्त लक्षण का विवेचन करने से यह बात स्पष्ट होती है कि इस विभावना में कारण का अभाव रहने पर भी जो कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है उसमें यद्यपि आपाततः विरोध की ही प्रतीति होती है अर्थात् कारण के बिना कार्य का होना यद्यपि यह बात विरुद्ध प्रतीत होती है परन्तु जिस कारण का अभाव कहा गया है उससे भिन्न कारण की अर्थात् कारणान्तर की कल्पना कर लेने पर वह विरोध समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ-

विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयन्त्यः।
अनन्तमायामयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्यः।।

अपरिमित मायामय मनोहर लीलाओं से युक्त नीलकमल-दल के समान विशाल नयनों वाली वे रमणियाँ संसार में सबसे उत्कृष्ट हैं, जो शस्त्र के बिना ही विवेकयुक्त युवकों के हृदयों को विदीर्ण कर देती हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में दारण रूप कार्य का शस्त्र कारण है परन्तु शस्त्र के अभाव में भी दारण का वर्णन हुआ है अतः यहाँ आपाततः विरोध की प्रतीति होती है परन्तु बाद में दारण के कारण रूप में कामिनी-विलासों की कल्पना कर लेने पर वह विरोध समाप्त हो जाता है।

प्रस्तुत उदाहरण में जिस कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है उसके कारण रूप में सर्वजनविदित वस्तु का अभाव ही नहीं प्रतीत होता और जिस कार्य के कारण का अभाव प्रतीत होता है उस कार्य की उत्पत्ति का वर्णन ही नहीं हुआ है। कहने का भाव यह है कि उपर्युक्त उदाहरण में "दारयन्त्यः" पद से

कामजनित पीडाविशेष रूप दारण का कथन अभीष्ट है "दो टुकड़े कर देना" यह अर्थ अभीष्ट नहीं है अतः यहाँ पर कामजनित पीडाविशेष रूप जिस कार्य की उत्पत्ति वर्णित है। यद्यपि यहाँ पर जो पीडाविशेष रूप कार्य है उस कार्य के कारण के अभाव की प्रतीति होती रहती तो यहाँ पर विभावना होती परन्तु यहाँ तो शस्त्र रूप कारण का अभाव ही प्रतीत होता है और शस्त्र जो है वह पीडाविशेषात्मक अर्थात् पीड़ा विशेष के रूप में वर्णित कार्य का कारण नही है यह शंका होती है। इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि यहाँ पर "दो टुकड़े कर देना" रूप अर्थ के वाचक "दारि" धातु की कामभावजन्य पीड़ा विशेष रूप अर्थ में साध्यवासाना लक्षणा हुयी है। यही कारण है कि यहाँ दारण के दो अर्थ हैं- पहल दो टुकड़े कर देना और दूसरा "कामजनित पीड़ाविशेष"। इसमें पहला वाला अर्थ अर्थात् "दो टुकड़े कर देना" मुख्य अर्थ है और दूसरा "कामजनित पीड़ाविशेष" गौण अर्थ हुआ। इस प्रकार यहाँ पर गौण तथा मुख्य दारणों में सादृश्यमूलक अभेदाध्यवसाय रूप अतिशय के कारण जो भेद है वह नहीं हो पाता है क्योंकि "दो टुकड़े कर देना" और "कामभावजन्य पीड़ा विशेष" मे दोनो अर्थ अभिन्न समझ लिए जाते हैं तो एक का जो कारण है उसी को दूसरे का भी कारण समझना पड़ता है कहने का तात्पर्य यह है कि शस्त्र जो कि वास्तव में "दो टुकड़े कर देने" का कारण था उसे ही कामपीडा का भी कारण समझा जाता है। अतः यहाँ शस्त्र रूप कारण के अभाव में शास्त्र रूप कारण के कार्य कामपीडाविशेष का वर्णन होने के कारण विभावना अलङ्कार हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी बात स्पष्ट हो जाती है कि विभावना अलङ्कार में सर्वत्र कार्यांश में अभेदाध्यवसान रूप अतिशयोक्ति अनुप्राणक के रूप में विद्यमान रहती है। स्पष्ट रूप से यह बात कही जा सकती है कि विभावना अलङ्कार के कार्यांश में दो वस्तुएं रहती हैं और वे दोनों ही वस्तुएं अतिशयोक्ति के द्वारा एक बना दी जाती हैं। वस्तुत: कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होती है यह बात विरुद्ध प्रतीत होती है। अत: ऐसी अवस्था में तो कारणाभाव और कार्य इन दोनों में बाध्य-बाधक भाव होगा। इस शंका का समाधान करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि कार्य अंश कारणाभाव रूप विरोधी का बाध्य रूप से स्थित रहता है, बाधक रूप से नहीं- अर्थात् कारणाभाव के द्वारा बाधित रूप में कार्यांश की प्रतीति होती है, क्योंकि कार्य अंश यहाँ उक्त रीति से कल्पित रहता है और कारण का अभाव स्वभावसिद्ध अर्थात् वास्तविक रहता है।[1] कार्यांश के ही बाधित होने के कारण विभावना अलङ्कार विरोध अलङ्कार से भिन्न माना जाता है।

1- कारणाभाव-कार्ययोर्विरुद्धयोर्वर्णने बाध्य-बाधक भाव: स्वाभाविक इति तत्र "कारणाभावो बाधक: कार्यं बाध्यम्, उत कार्यमेव बाधकम् कारणाभाव एवं बाध्य:" इति जिज्ञासायां ग्रन्थकारो वक्ति यत्कारणाभाव एव बाधक: कार्यं च बाध्यम्, यत: कार्यांश: पूर्वोक्तरीत्या कल्पितस्तिष्ठति कारणाभावश्च वास्तविक इति।

रसगङ्गाधर- पृ0 426

रूय्यक की ही भाँति पण्डितराज जगन्नाथ ने भी विभावना का अनुप्राणक अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है यह बात स्वीकार की है परन्तु विभावना में सर्वत्र अतिशयोक्ति ही अनुप्राणक हो यह बात नहीं है परन्तु आहार्य अभेद बुद्धि मात्र ही सर्वत्र अनुप्राणक है इतना अवश्य है कि वह आहार्य अभेद बुद्धि कहीं अतिशयोक्ति के द्वारा होती है और कहीं रूपक के द्वारा। कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि आघर्या अभेद बुद्धि मात्र विभावना की पोषिका होती है। वह आहार्य अभेद ज्ञान कहीं अतिशयोक्ति से होता है तो कहीं रूपक से ।

इस प्रकार प्राय: सभी आचार्यों ने कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति को विभावना अलङ्कार का लक्षण माना है। रूय्यक ने इसके उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता इन दो भेदों की कल्पना की, परन्तु कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने इसके छ: भेदों की कल्पना की जो इस प्रकार है[1]--

1· विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्।
अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्।।

अर्थात् जहाँ प्रसिद्ध कारण के बिना भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाय वहाँ विभावना अलङ्कार होता है। जैसे- उस सुन्दरी के चरण लाक्षारस के बिना भी लाल हैं।

1· कुवलयानन्द पृ0- 142-147

उपर्युक्त उदाहरण में लाक्षारस रूप कारण के अभाव में भी चरणों की लाली का वर्णन किया गया है। अतः यह विभावना अलङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण है। प्रस्तुत उदाहरण में चरणों की लाली नैसर्गिक है। अतः कारणाभाव में कार्य की उत्पत्ति के विरोध का परिहार हो जाता है।

हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सामता।
अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः।।

दूसरी विभावना वहाँ होती है जहाँ किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक समग्र कारणों में से किसी कारणविशेष के अभाव में ही कार्योत्पत्ति हो जाय, अर्थात् जहाँ किसी कार्य के प्रति एक ही कारण न हो, अनेक कारण विद्यमान हो और उन अनेक कारणों में से किसी भी कारण के उपस्थित न होने पर भी कार्य हो जाय। उदाहरणार्थ- कामदेव तीक्ष्णता तथा कठिनता से रहित [पुष्प के] आयुधों से ही संसार को जीत रहा है।

उपर्युक्त उदाहरण में संसार के विजय रूप कार्य के लिए अस्त्रों का कारणत्व समग्र रूप में वर्णित नहीं है अर्थात् अस्त्र और तीक्ष्णता तथा कठिनता में से केवल अस्त्रों का विद्यमान होना, उन अस्त्रों में तीक्ष्णता तथा कठिनता का न होना कारणों का पूर्ण न होना है अर्थात् समस्त कारणों का अभाव है क्योंकि मन्मथ के अस्त्रों में तीक्ष्णता तथा कठिनता का अभाव बताया गया है परन्तु उसके अभाव में भी संसार पर विजय रूप जो कार्य है रहा है अतः यह विभावना अलङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण है।

कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबन्ध के।
नरेन्द्रानेव ते राजन् । दशत्यसिभुजङ्गम:।।

जहाँ कारण से कार्योत्पत्ति होने में किसी प्रतिबन्धक (रूकावट) की उपस्थिति होने पर भी अर्थात् किसी प्रतिबन्ध के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय तो तीसरे प्रकार की विभावना होती है, जैसे, हे राजन् तेरा खड्गरूपी सर्प विषवैद्यों (नरेन्द्र, राजाओं) को ही डसता है।

उपर्युक्त उदाहरण में नरेन्द्र शब्द से श्लेष के द्वारा उन विषवैद्यों का जो सर्पदंश को रोकने वाला मणिमंत्रौषधि से युक्त होते हैं ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत उदाहरण में "सर्प" नरेन्द्रों को ही डसता है। अत: यह प्रतिबंधक के होते हुए कारण से कार्य की उत्पत्ति का उदाहरण है।

अकारणात् कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना।
शङ्खाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्।।

जहाँ प्रसिद्ध कारण से भिन्न वस्तु अर्थात् अकारण से भी कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ चौथी विभावना होती है। जैसे, बड़े आश्चर्य की बात है कि शंख से वीणा की झंकार उत्पन्न हो रही है।

उपर्युक्त उदाहरण में शंख से वीणा की झंकार उत्पन्न हो रही है। वीणा-निनाद का कारण तो वीणा ही हो सकती है, "शंख" से तो वीणा की झंकार निकल नहीं सकती "शंख" तो उसका अकारण है। वीणा के अभाव में शंख से वीणा

की झंकार उत्पन्न होने का वर्णन है। अत: यहाँ अकारण से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने के कारण यह विभावना अलङ्कार के चतुर्थ भेद का उदाहरण है यहाँ "नायिका के कण्ठ से वीणा की झंकार के समान गीत उत्पन्न हो रहा है यह अर्थ करने पर उत्पन्न हुए विरोध का परिहार हो जाता है।

विरुद्धात् कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना।
शीतांशुकिरणास्तन्वीं हन्त संतापयन्ति ताम्।।

जहाँ विरोधी कारण से कार्य की उत्पत्ति हो वहाँ दूसरे ढंग की (पाँचवें प्रकार की) विभावना होती है। जैसे, बड़ा दु:ख है, उस कोमलांगी को चन्द्रमा की शीतल किरणें सन्तप्त करती हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में चन्द्रमा की किरणें शीतल होती है अत: वे ताप को मिटाती हैं, ताप को मिटाने के कारण वे ताप विरुद्ध हैं किन्तु यहाँ उन किरणों से ताप का उत्पन्न होना ही वर्णित किया गया है। अत: यहाँ विरोधी कारण से कार्य की उत्पत्ति होने के कारण यह विभावना अलङ्कार के पाँचवे भेद का उदाहरण है।

कार्यात् कारणजन्मापि दृष्टा काचिद्विभावना।
यश: पयोराशिरभूत् करकल्पतरोस्तव।।

कार्य से कारण की उत्पत्ति होने पर भी एक प्रकार की (छठें प्रकार की) विभावना देखी जाती है, जैसे, हे राजन्, तुम्हारे हाथ रूपी कल्पवृक्ष से यश का क्षीर समुद्र पैदा हो गया।

प्रस्तुत उदाहरण में "पयोधि" कल्पवृक्ष का वास्तविक कारण है। परन्तु यहाँ कल्पवृक्ष को पयोधि का कारण बना दिया गया है। अतः यहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति का वर्णन होने के कारण यह विभावना अलङ्कार के छठें भेद का उदाहरण है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित के उक्त छः भेदों का खण्डन किया है। उनके मतानुसार अप्पय दीक्षित ने विभावना अलङ्कार का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया है जिससे कि यह बात स्पष्ट हो सके कि उक्त भेदों को किसका भेद मानें। जिस प्रकार भेद होने पर सादृश्य को उपमा कहते हैं" "उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक कहते हैं" अर्थात् उपमा रूपक आदि के एक-एक मुख्य लक्षण बताये गये हैं तत्पश्चात् उनके पूर्णा, लुप्ता, सावयव, निरवयव आदि भेद बताये गये हैं उसी प्रकार यहाँ सामान्य विभावना का कोई लक्षण नहीं दिया गया है जिससे विभावना के उक्त प्रकार सिद्ध हो सकें। अतः इस प्रकार तो फिर कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति यह विभावना अलङ्कार का सामान्य लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि उन्होंने इसकी गणना विभावना के एक प्रकार के रूप में की है। यदि उक्त भेद को भेद नहीं माना जायेगा तो तीसरी और चौथी विभावना की भी सार्थकता नहीं होगी। यदि अतिशयोक्ति आदि के समान यहाँ भी उक्त प्रकारों में से कोई एक का होना यह इसका सामान्य लक्षण मान लिया जाय तो भी व्यवस्था नहीं बन पाती क्योंकि प्रथम में कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति होती है यहाँ पर कारण का वैसा ही अभाव कहना अभीष्ट है जिसकी प्रतियोगिता कारणतावच्छेद की भूत संबन्ध और धर्म से अवच्छिन्न हो। उसी तरह तृतीय प्रकार में भी हेतुओं का समग्र रूप से उपस्थित न होना भी एक तरह से कारणाभाव

ही है। अतः प्रथम प्रकार से द्वितीय प्रकार में कोई विलक्षणता नहीं है। इसी प्रकार तृतीय प्रकार अर्थात् प्रतिबन्धक के रहने पर भी कार्योत्पत्ति इसमें प्रतिबन्ध का रहना भी कारण का अभाव ही है क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव कार्य मात्र के प्रति कारण है जहाँ प्रतिबन्धक रहेगा वहाँ कारण का अभाव होना निश्चित ही है। अतः विभावना अलङ्कार के तृतीय प्रकार की भी प्रथम प्रकार से अभिन्नता सिद्ध ही हो गयी । विभावना अलङ्कार के चतुर्थ भेद में भी अकारण से कार्य की उत्पत्ति कहने में भी आर्थ कारणाभाव है अर्थात् यहाँ भी अर्थतः कारणाभाव का ही ज्ञान हो जाता है क्योंकि "यह वीणा की ध्वनि शङ्ख से हो रही है" ऐसा कहने पर "वीणा के बिना वीणा ध्वनि हो रही है इसी अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यहाँ भी अर्थकारणाभाव है। यहाँ भी कारणाभाव में कार्योत्पत्ति होने से प्रथम प्रकार की विभावना से कोई विलक्षणता नहीं है यहाँ भी प्रथम प्रकार की विभावना सङ्गत हो जाती है। इसी प्रकार छठें भेद में भी कारणाभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के उपर्युक्त छः भेदों का खण्डन किया है। उनके मतानुसार अप्पय दीक्षित द्वारा बताये गये सभी विभावना प्रकार प्रथम प्रकार में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं अर्थात विभावना के प्रथम प्रकार में ही सब प्रकारों का संग्रह हो जाता है। इस प्रकार जब एक ही प्रकार से अन्य सभी प्रकारों का संग्रह हो जाता है तो उन्हें पृथक्-पृथक् रूप में कहना युक्तिसंगत नहीं है। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बात भी कही है कि कुवलयानन्द के समर्थक में यह बात कही जा सकती है कि "कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति यह विभावना अलङ्कार का सामान्य लक्षण है और इसके सर्वप्रथम दो भेद होते हैं--

1· शाब्दी विभावना {जहाँ शब्दतः कारण के अभाव का प्रतिपादन हो }

2· आर्थी विभावना {जहाँ कारण का अभाव अर्थात् ज्ञात हो}

शाब्दी विभावना के भी तीन भेद किये जा सकते है-

1· प्रतिबन्ध कातिरिक्त- कारणाभाव वर्णन-पूर्वक अर्थात् जिसमें कारण के अभाव का वर्णन प्रतिबन्धक के रूप में न होकर कारण रूप वस्तु के अभाव का वर्णन हो।

2· कारण वस्तु के रहते हुए भी कारणगत जिस विशेषता के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती उस विशेष की कमी {अभाव} का कथन कारणता का अवच्छेदक धर्म होगा और कहीं कारणतावच्छेदक सम्बन्ध ।

3· प्रतिबन्धक की उक्ति पूर्वक- अर्थात् प्रतिबन्धक के रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने पर ।

इसी प्रकार आर्थी विभावना के भी तीन भेद बताये हैं-

1· प्रस्तुत कार्य के सजातीय अन्य कार्य के कारण से प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति ।

2· प्रस्तुत कार्य से विरूद्ध कार्य के कारण से प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति।

3· अपने कार्य से ही प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति ।

पण्डितराज जगन्नाथ के ही मतानुसार मुख्य रूप से विभावना अलङ्कार के दो भेद होते है---

1· उक्तनिमित्ता विभावना

2· अनुक्त निमित्ता विभावना

उक्तनिमित्ता विभावना -

जहाँ कारणाभाव से कार्योत्पत्ति का वर्णन करते हुए उस कार्य का पृथक् कारण भी कह दिया जाय वहाँ उक्तनिमित्ता विभावना होती है।

उदाहरणार्थ--

यदवधि विलासभवनं यौवनमुदियाय चन्द्रवदनायाः ।
दहनं विनैव तदवधि यूनां हृदयानि दह्यन्ते ।।

जब से विलासों का भवन चन्द्रमुखी नायिका का यौवन उदित हुआ तब से अग्नि के बिना ही युवकों के हृदय दग्ध हो रहे हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में अग्नि के बिना ही दाह का वर्णन किया गया है। परन्तु उस दाह के प्रति अग्नि के अतिरिक्त दूसरा कारण अर्थात् यौवन रूप निमित्त उक्त है जिसके कारण आग के अभाव में भी युवकों के हृदय जलते हैं। अतः निमित्त के उक्त होने से यह उक्तनिमित्ता विभावना का उदाहरण है।

अनुक्तनिमित्ता विभावना-

जहाँ कारण उक्त न हो अर्थात् उस कारण को न कहा गया हो वहाँ अनुक्त निमित्ता विभावना होती है।

उदाहरणार्थ-

> विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयन्त्यः।
> अनन्तमायाभयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्यः ।।

उपर्युक्त उदाहरण जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है इसमें "दारण" से अभिमत कामजन्यपीडा के कारण कामिनियों के जो विलास हैं वह इस उदाहरण में उक्त नहीं हैं उनकी कल्पना मात्र की गयी है अतः यह अनुक्त निमित्ता विभावना का उदाहरण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गयी कि जिस अधिकरण में जो कारण रहता है उस अधिकरण में ही उस कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो उस कार्योत्पत्ति को विभावना अलङ्कार कहा जाता है। विभावना अलङ्कार और विरोध अलङ्कार में भेद यह है कि विभावना में कार्यांशमात्र बाधित रहता है। अतः कार्यांश दुर्बल रहता है और कारणांश प्रबल रहता है अर्थात् दोनों समान बल वाले नहीं होते, परन्तु विरोध अलङ्कार में ऐसी बात नहीं है। विरोध अलङ्कार में जिन दो वस्तुओं में विरोध दिखलाया जाता है वे दोनों ही समान बल वाले होते हैं। अतः उन दोनों में एक बाधक और दूसरा बाध्य नहीं होता, बल्कि दोनों ही बाधक और दोनों ही बाध्य होते हैं। इस बात को प्राचीन आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि विभावना में "कारण के निषेध से फलोदय {कार्योत्पत्ति} बाध्यमान होकर भासित होता है और विरोध परस्पर बाधन को कहा जाता है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत विभावना लक्षण ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। रूय्यक ने प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति को विभावना अलङ्कार का लक्षण माना तथा उन्होंने अतिशयोक्ति को विभावना की अनुप्राणिका माना अर्थात् विभावना में सर्वत्र अतिशयोक्ति अनुप्राणक के रूप में वर्तमान रहती है परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल आहार्य अभेद बुद्धि मात्र का अनुप्राणन स्वीकार किया। वह अभेद ज्ञान कहीं रूपक के द्वारा और कहीं अतिशयोक्ति के द्वारा भी हो सकता है। उनका यह मत ही अधिक युक्तिसंगत है। विभावना अलङ्कार में कारण से विरुद्ध कार्यांश कारणाभावरूप विरोधी के रहते हुए भी बाध्यरूप से स्थित रहता है। इस अलङ्कार में जिस कार्य की उत्पत्ति का वर्णन रहता है उस कार्य की उत्पत्ति का ही नियम के विरुद्ध होने से बाध हो जाता है। विभावना में कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति के वर्णन से प्रातिभासिक विरोध प्रतीत होता है और प्रसिद्ध कारण से- भिन्न किसी अन्य कारण से उस कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करने पर उस विरोध का परिहार हो जाता है। अन्ततः हम यह कह सकते हैं कारण के अभाव से बाधित होते हुए कार्य का वर्णन विभावना में होता है। यही इस अलङ्कार की विरोधमूलकता और अलङ्कारता है।

विशेषोक्ति अलङ्कार -

विशेषोक्ति अलङ्कार की भी गणना विरोधमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत की गयी है। विशेषोक्ति अलङ्कार विभावना अलङ्कार का ही विपर्यय रूप है। विभावना अलङ्कार में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति दिखलायी जाती है। इसके विपरीत विशेषोक्ति अलङ्कार में सम्पूर्ण कारणों के विद्यमान रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होने का वर्णन होता है। आचार्य भामह के मतानुसार जहाँ वैशिष्ट्य दिखाने के लिए वस्तु के एक देश के विगत होने पर उसमें दूसरे गुण का सद्भाव दिखाया जाय वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। भामह द्वारा स्वीकृत इस लक्षण को यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। दण्डी के मतानुसार जहाँ कार्योत्पत्ति रूप विशेष (अथवा कार्यविषयक अतिशय) का प्रतिपादन करने के लिए गुण, जाति, क्रिया आदि (और द्रव्य) के अभाव या असमग्रभाव के वर्णन को (विशेष प्रतिपादनात्मक उक्ति होने के कारण) विशेषोक्ति कहते हैं।[1] आचार्य उद्भट ने विभावनाअलङ्कार के विपर्यय के रूप में विशेषोक्ति अलङ्कार की कल्पना की तथा उन्होंने संपूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न दिखाना विशेषोक्ति अलङ्कार का लक्षण स्वीकार किया।

1- गुणजातिक्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ।।

-- काव्यादर्श 2/323

आचार्य मम्मट, रूय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित आदि सभी आचार्यों के उद्भट के ही मत को मान्यता प्रदान की। यह बात तो स्वाभाविक ही है कि कारण की न्यूनता, अपूर्णता आदि होने पर कार्य की उत्पत्ति न हो परन्तु उसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं हैं। परन्तु समग्र हेतुओं के उपस्थित होते हुए भी यदि कार्य की उत्पत्ति न हो तो वह अलङ्कार का विषय है।

पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार जहाँ जिस कार्य का लोकप्रसिद्ध कारण समूह वर्तमान हो वहाँ यदि उस कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन हो तो विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।

कारण के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति के वर्णन में यद्यपि पहले तो विरोध की प्रतीति होती है परन्तु प्रसिद्ध कारण के रहने पर भी अप्रसिद्ध कारण के अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस बात का ज्ञान होने पर उस विरोध की निवृत्ति हो जाती है।

विशेषोक्ति अलङ्कार के भेद के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद है। आचार्य दण्डी ने विशेषोक्ति अलङ्कार के पाँच, उद्भट ने दो तथा अभिनवगुप्त ने तीन भेद स्वीकार किये है। आचार्य मम्मट ने भी विशेषोक्ति के तीन भेद किये है:- 1. अनुक्तनिमित्ता 2. उक्त निमित्ता 3. अचिन्त्यनिमित्ता।

<u>अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति</u>

जहाँ कारण के न होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति हो और उसका

निमित्त न बतलाया जाय वहाँ अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति होती है।

उदाहरणार्थ-

1· निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे· चचाल नालिङ्ग·नतोऽङ्ग·ना सा।।

निद्रा खुल जाने पर, सूर्य का उदय हो आने पर, सखियों के [शयन कक्ष के] दरवाजे पर आ जाने पर और उपपति [भुजङ्ग·] के आलिङ्ग·न के रस को त्याग देने पर भी वह आलिङ्ग·न [बाहुपाश] से विचलित नहीं हुयी।

प्रस्तुत उदाहरण में निद्रा की निवृत्ति, सूर्य का उदय हो जाना तथा सखियों का घर के दरवाजे पर आ जाना सभी कारण जो है आलिङ्ग·न परित्याग के कारण हैं। अतः इन सभी कारणों के उपस्थित होने पर भी नायिका आलिङ्ग·न का परित्याग नहीं कर रही है। अतः यहाँ कारण के होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन होने से विशेषोक्ति अलङ्·ार है और उसका नीमित्त भी उक्त नहीं है। इसलिए यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है।

उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति

जहाँ कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन न हो परन्तु उसका निमित्त उक्त हो वहाँ उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति होती है। उदाहरणार्थ-

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे।।

जो [कामदेव] कपूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन-जन में शक्तिमान् हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है।

उपर्युक्त उदाहरण में भस्म हो जाना शक्तिक्षय का कारण है। उस कारण के विद्यमान होने पर भी कामदेव की शक्ति का क्षय नहीं हुआ है। अत: कारण के होने पर भी कार्य का वर्णन न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है परन्तु यहाँ उसका निमित्त "अवार्यवीर्यत्व" उक्त है। अत: यह उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है।

अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति

अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति में निमित्त अनुक्त तो रहता ही है साथ में अचिन्त्य भी रहता है अर्थात् सोचने पर भी किसी खास निमित्त का पता नहीं चलता, बस इतना ज्ञात हो पाता है कि कुछ निमित्त होगा।

उदाहरणार्थ

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्।।

फूलों के अस्त्र धारण करने वाला वह [कामदेव] अकेला ही तीनों लोकों को पराजित कर देता है, जिसके शरीर का अपहरण करके भी शिवजी उसकी शक्ति का विनाश नहीं कर पाये।

शरीर का संहार कर देना कारण के होने पर भी शक्ति का हरण इस कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त जो है वह अनुक्त भी है और अचिन्त्य भी है ऐसा इस कारण है क्योंकि कोई निमित्त समझ में ही नहीं आता है। अतः इस उदाहरण को उन्होंने अनुक्ताचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति अलङ्कार का उदाहरण माना है।

इस प्रकार कुछ विद्वान् विशेषोक्ति अलङ्कार के उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता दो भेद मानते हैं। परन्तु कुछ विद्वान् उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता के अतिरिक्त अचिन्त्यनिमित्ता नामक विशेषोक्ति अलङ्कार का एक भेद और मानते हैं। जैसा कि अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है। अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति में कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति वर्णित होती है और उसका निमित्त नहीं बतलाया जाता अर्थात् निमित्त अनुक्त रहता है। इसी प्रकार अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी कारण के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति वर्णित होती है और निमित्त उक्त नहीं रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि दोनों में निमित्त अनुक्त ही रहता है। यद्यपि निमित्त के उक्त होने के कारण दोनों में समानता है फिर भी इन दोनों अर्थात् अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यमित्ता में अन्तर यह है कि अनुक्तनिमित्ता में निमित्त अनुक्त होकर भी चिन्त्य रहता है तथा अचिन्त्यनिमित्ता में निमित्त अनुक्त तो रहता ही है साथ ही साथ अचिन्त्य भी रहता है अर्थात् अचिन्त्यनिमित्ता में किसी खास निमित्त का ज्ञान नहीं हो पाता, लेकिन कोई कारण होगा इस इस प्रकार का भाव ही बना रहता है। वहाँ किसी कारण का ज्ञान नहीं हो

पाता जैसा कि "स एक:" इस उपर्युक्त उदाहरण में किसी खास निमित्त का पता नहीं चल पाता है।

दूसरे विद्वानों के मतानुसार विशेषोक्ति अलङ्•ार का यह अचिन्त्यनिमित्ता नामक भेद तब हो सकता है यदि अनुक्तनिमित्ता भेद में निमित्त का विशेषण चिन्त्य लगाया जाय । लेकिन अनुक्तनिमित्ता में कारण जो है वह चिन्त्य ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता दोनों में निमित्त तो अनुक्त रहता है, लेकिन निमित्त के उक्त होने पर भी निमित्त के चिन्त्य और अचिन्त्य होने के कारण ही भेद होगा अर्थात् अनुक्तनिमित्ता भेद में यह कहना आवश्यक होगा कि जहाँ निमित्त चिन्त्य होकर अनुक्त हो लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा कहने पर तो अचिन्त्यनिमित्ता रूप पृथक् भेद मानने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जहाँ चिन्त्य और अचिन्त्य दोनों में से किसी भी प्रकार का निमित्त उक्त न हो वहाँ अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति माननी चाहिए। अत: विशेषोक्ति अलङ्•ार के दो ही भेद होते है तीन नहीं। अनुक्तनिमित्ता से पृथक् अचिन्त्यनिमित्ता की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती।

विशेषोक्ति अलङ्•ार में कारण का होना और कार्य का न होना जो वर्णित रहता है वह परस्पर विरुद्ध है। अत: उन दोनों में किसी एक को बाधित होना चाहिए। परन्तु दोनों में से कौन बाधित होता है यह शंका होना स्वाभाविक है। इस शंका के समाधान में यह बात कही जा सकती है कार्य की अनुत्पत्ति से कारण की विद्यमानता बाधित होती है यही कारण है कि कार्य की अनुत्पत्ति को प्रबल और कारण की विद्यमानता को दुर्बल माना जाता है। अत: कार्यानुत्पत्ति

से कारण की विद्यमानता बाधित हो जाती है।

परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ऐसा नहीं मानते। उनके मतानुसार विशेषोक्ति अलङ्कार में कार्य की अनुत्पत्ति ही बाध्य रहती है कारण की विद्यमानता नहीं, क्योंकि मम्मट द्वारा प्रस्तुत किया गया जो विशेषोक्ति अलङ्कार का "कर्पूर इव- आदि पहला उदाहरण है उसमें कामदेव के शरीर नाश रूप कारण तो प्रमाण सिद्ध है इस कारण वह बाध्य हो ही नहीं सकता। इसमें शक्ति और बल के रहने पर भी शरीर का नाश क्यों हुआ ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती अपितु कामदेव के शरीर का नाश हो जाने पर भी शक्ति और बल का नाश क्यों नहीं हुआ ऐसी प्रतीति सर्वसाधारण को होती है और इस प्रतीति में कार्य की अनुत्पत्ति (शक्ति और बल का नाश होना ही) बाध्य रूप में झलकती हैं। अतः यहाँ कारण पक्ष अबाध्य और कार्यपक्ष बाध्य रहता है। उनके मतानुसार जहाँ इस प्रकार की स्थिति नहीं होती वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार नहीं माना जा सकता।

<u>उदाहरणार्थ</u>

"दृश्यतेऽनुदिते यस्मिन्नुदिते नैव दृश्यते।
जगदेतन्नमस्तस्मै कस्मैचिद्बोधभानवे।।"

"जिसके उदित न होने पर यह संसार दृष्टिगोचर होता है और जिसके उदित होने पर यह संसार दृष्टिगोचर नहीं होता- उस किसी ज्ञानरूप सूर्य को नमस्कार है।

उपर्युक्त उदाहरण में उदय के अभाव में संसार का दर्शन अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का वर्णन है और उदय होने पर दर्शन का अभाव अर्थात् कारण के रहने पर भी कार्य का अभाव वर्णित है परन्तु यहाँ विभावना या विशेषोक्ति अलङ्कार नहीं है। क्योंकि यहाँ कारण के अभाव में कार्य और कारण के रहने पर भी कार्य का अभाव होने की प्रतीति होती है, परन्तु वस्तुत: उनमें से एक भी नहीं है क्योंकि जिस सूर्य का उदयानुदय वर्णित है वह वास्तविक सूर्योदय का वर्णन नहीं है। यदि यहाँ वास्तविक सूर्य के उदय का वर्णन होता तब तो यहाँ उक्त अलङ्कार हो सकते थे और यदि यहाँ वास्तविक सूर्योदय का वर्णन मान लिया जाय तब तो "सूर्योदय होने पर संसार दृष्टिगोचर नहीं होगा" यह अर्थ ही सङ्गत हो सकेगा क्योंकि वास्तविक सूर्योदय होने पर संसार का दृष्टिगोचर होना निश्चित है। अत: यहाँ "ब्रह्मात्मा और जीवात्मा की एकता का बोधरूप सूर्य का उदय ही वर्णनीय है और इस सूर्य के उदय का कार्य संसार का अदर्शन ही है संसार का दर्शन नहीं। यही कारण है कि यहाँ विभावना या विशेषोक्ति अलङ्कार नहीं है। यहाँ वैधर्म्य की उक्ति रहने के कारण बोध और सूर्य में अभेद मानकर बोध में सूर्य से अधिकता दिखलाने के कारण व्यतिरेक अलङ्कार है और यह व्यतिरेक रूपक पर आश्रित है क्योंकि दोनों सूर्यों में अभेद किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेषोक्ति अलङ्कार के उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता ये दो ही भेद स्वीकार किये हैं तथा उन्होंने विभावना की ही भाँति विशेषोक्ति के भी शाब्द तथा आर्थ अर्थात् शाब्दी विशेषोक्ति और आर्थी विशेषोक्ति ये दो भेद स्वीकार किये हैं।

इस प्रकार विशेषोक्ति अलङ्कार विभावना अलङ्कार का ही विपरीत अलङ्कार है। विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कार में कोई विशेष भेद नहीं है। कारण है तो उसका कार्य भी होना चाहिए लेकिन इस अलङ्कार में कारण के विद्यमान रहते हुए भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन होता है यही इस अलङ्कार की विरोधमूलकता है। जहाँ तक इन दोनों अलङ्कारों की अलङ्कारता का प्रश्न है संस्कृत कवियों ने इन अलङ्कारों का प्रयोग विविध प्रकार के रसात्मक प्रसङ्गों में कर काव्य में एक विचित्र आनन्द की सृष्टि की है। वस्तुत: कारण-कार्य के नियमों के इन विविध विपर्ययों से कथन में एक विशेष प्रकार की भङ्गिमा आ जाती है। ये नियम और नियम भङ्ग दोनों ही प्राय: कवि लोक से ग्रहण करता है। शस्त्रों द्वारा सब वस्तुओं का विदारण किया जाना लोक में प्रसिद्ध है परन्तु शस्त्र के बिना भी विदारण क्रिया होने लगे तो निश्चित रूप से यह एक विचित्र घटना ही होगी पर युवकों के हृदय विदारण के प्रसङ्ग में शस्त्रों के बिना ही रमणी कटाक्षों द्वारा विदारण क्रिया कराने में कवि काव्य में एक अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करता है शस्त्र न होते हुए भी कटाक्षों का हृदय विदारक के रूप में प्रयोग अनेकश: कवियों ने किया है अत: इस स्थिति में विभावना रूप यह कारण कार्य विपर्यय अलङ्कार बन जाता है और इसके विपरीत वाली स्थिति में यही विशेषोक्ति अलङ्कार का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए इन दोनों अलङ्कारों को विरोधमूलक अलङ्कारों की श्रेणी में रखा गया है।

कारणातिशयोक्ति अलङ्कार

अतिशयोक्ति एक प्रमुख एवं व्यापक अलङ्कार है। वैसे तो काव्य में अलङ्कार मात्र के प्रयोग में मूल में अतिशयोक्ति ही रहती है, परन्तु अतिशयोक्ति को सादृश्यमूलय अलङ्कारों के अन्तर्गत रखकर व्याख्यात किया गया है और उसके अनेक भेदों का प्रदर्शन कर आचार्यों ने उसके स्वरूप को वैविध्य प्रदान किया है। अत: मूलत: अतिशयोक्ति सादृश्यमूलक अलङ्कार है तथा उसके एक भेद का स्वरूप उसे विरोध-मूलक श्रेणी में रख देता है। अलङ्कार के इस भेद को सामान्यत: "कारणातिशयोक्ति" कहा जाता है। इसमें कार्य-कारण का विपर्यय ही विरोध का मूल है। अत: इसे "कार्यकारणपौर्वापर्यरूप तिशयोक्ति" नाम से कहा जाता है। सांसारिक नियम के अनुसार पहले कारण होता फिर कार्य होता है, लेकिन इसमें कवि कुछ ऐसा वर्णन करता है कि पहले कार्य होता है फिर कारण होता है। न तो कारण से पहले कार्य हो सकता है और न उसके साथ ही उत्पन्न हो सकता है। इसलिए कारण से पूर्व कार्य का कथन या दोनों का साथ कथन विपर्यय समझा जाता है। काव्य में पहले कार्य फिर कारण का वर्णन करके कवि केवल उस कार्य की द्रुतता एवं बलवत्ता दिखाकर चमत्कार उत्पन्न करना चाहता है।

उद्भट के काव्यालङ्कार सार संग्रह में अतिशयोक्ति अलङ्कार के भेदों का निरूपण सैद्धान्तिक रूप से तो नहीं हुआ था, परन्तु दण्डी ने उसके संशय, निर्णय तथा आश्रयाधिक्य आदि रूपों के उदाहरण दिए। उद्भट ने उसके चार रूपों की परिकल्पना की-- ॥1॥ भेद में अभेद, ॥2॥ अभेद में भेद, ॥3॥ वस्तुत: असद् का

सम्भावना में निबन्धन तथा {4} कार्यकारण-पौर्वापिर्यविपर्यय । रूय्यक ने अतिशयोक्ति अलङ्कार के पाँच भेद स्वीकार किए। ये पाँच भेद हैं- भेद में अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध में असम्बन्ध, असम्बन्ध में सम्बन्ध और कार्य-कारण-पौर्वापर्य-विध्वंस । कार्यकारण पौर्वापर्यविपर्यय की जगह रूय्यक ने "कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस" कहा है। उनके मतानुसार इस कार्यकारणपौर्वापर्यध्वंस के दो रूप है। कार्य और कारण के स्वाभाविक क्रम का ध्वंस कार्य का कारण से पूर्व भाव तथा सहभाव दिखाने से हो सकता है। जयरथ के मतानुसार कार्यकारण का ध्वंस दो प्रकार से और कार्यकारण के पौर्वापर्य का ध्वंस तीन प्रकार से दिखाया जा सकता है। प्रसिद्ध कारण को कार्य तथा कार्य को कारण कहना कार्य कारणध्वंस के दो रूप हैं। कार्य का कारण से पूर्व भाव-सह-भाव तथा प्रसिद्ध कार्यों में क्रम विपर्यय दिखाना भी उसके {कार्य कारण} पौर्वापर्य के ध्वंस के तीन रूप हैं।[1] इस प्रकार उन्होंने इस ध्वंस के पाँच प्रकार माने है।

आचार्य रूय्यक ने अतिशयोक्ति के जिस भेद का स्वरूप उसे विरोधमूलक अलङ्कार की श्रेणी में रखता है उसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है--

"कार्यकारणयो: समकालत्वे पौर्वापर्यविपर्यये चातिशयोक्ति: ।।

1- अत्र च कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस इत्यनेन प्रसिद्धयो: कार्यकारणयोर्विध्वंसो विपर्ययस्तथा पौर्वापर्यस्यादिपश्चात्कालभावित्वेन प्रसिद्धस्य क्रमस्य विध्वंसो व्यत्यय: सहभावो वेत्यपि भेदत्रयं तन्नेणोक्तम् । एवं च कार्यकारणविध्वंसस्यापि पंचप्रकारा: । अलङ्कारसर्वस्वम् जयरथ-विमर्शिनी ,पृ0 87

जहाँ कार्य-कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय होता है वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है।

इस कार्य-कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय दो रूपों में होता है

§1§ जहाँ कारण बाद में और कार्य उसके पहले ही हो जाय तथा

§2§ जहाँ कारण और कार्य एक साथ हों।

उदाहरणार्थ-

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषयं त्वया भजता ।।

हे रमणीवल्लभ ! पुष्प ही जिसका धनुष तथा बाण है उस कामदेव ने मालती के हृदय पर पहले ही अधिकार कर लिया और तुमने दृष्टि गोचर होकर बाद में §उसके हृदय पर अधिकार किया।

प्रस्तुत उदाहरण में कार्य के पहले तथा कारण के बाद में होने का वर्णन किया गया है। इसलिए यह कार्य कारण में पौर्वापर्य की विपर्यय रूप अतिशयोक्ति के प्रथम रूप का उदाहरण है। वस्तुतः यहाँ पर उस नायक का दृष्टिगोचर होना नायिका के हृदय में काम के अधिष्ठित होने का कारण है परन्तु कवि यहाँ पर नायिका के हृदय में काम के प्रभाव का अतिशयता एवं शीघ्रता §त्वरितता§ व्यक्त करना चाहता है। इस व्यक्तीकरण में कवि कारण का यह विपर्यय एक विशेष प्रकार के चमत्कार को उत्पन्न करना चाहता है। यह विपर्यय ही विरोध का मूल बीज है जो काव्य मे अलङ्कारता को धारण करता है।

अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः ।
अयमायातः कालो हन्त हताः पथिकगेहिन्यः ।।"

घने और चंचल बादलों से युक्त कुटज, अर्जुन और कदम्ब के पुष्पों से वन की वायु को सुगन्धित करने वाला । यह वर्षा काल आगया और पथिकोंकी रमणियाँ मारी गयीं।

यहाँ पर "आयात और मृताः दोनों में क्त प्रत्ययलगने से यह स्पष्ट हो रहा है कि वर्षा का आना और पथिक गेहिनियों का मरना ये दोनों समकाल में हुए जबकि पहले प्रावृटरूपी कारण उपस्थित होता तब गेहिनी मरण (विरहिणी मरण) रूपी कार्य होता । यह समकालता भी वस्तुतः कहीं न कहीं विरोध से सम्बद्ध है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कार्य -कारण पौवापर्य विपर्यातिशयोक्ति को स्वीकार किया है उनके मतानुसार भी इसके पुनः दो उपभेद हो सकते हैं--
(1) जहाँ कारण और कार्य एक साथ हों और (2) जहाँ कारण बाद में और कार्य उसके पहले ही हो जाये।

उदाहरणार्थ कार्य कारण के साथ साथ होने का पूर्वापरीय भाव का विपर्यय जैसे -
"प्रतिखुरनिकरशिलातलसङ्घट्टसमुच्छलद्विद्युद्वल्लीकृतविस्फुलिङ्गआपटलानां वाजिनाम् ।

खुरपटो से होने वाले प्रत्येक शिला-संघर्ष में उछलते हुए अग्निकणों के प्रभा-पुंज को विद्युल्लता का रूप दे दिया है जिन्होंने ऐसे घोड़ों के -- ।

उपर्युक्त उदाहरण में अग्निकणों के उच्छलनरूप कारण और विद्युल्लहर की उत्पत्तिरूप कार्य का एक साथ वर्णन हुआ है।

इसी प्रकार कार्य की उत्पत्ति के बाद कारण की उत्पत्ति रूप पूर्वापरीय भाव का विपर्यय जैसे--

"पुर: पुरस्तादरिभूपतीनां भवन्ति भूवल्लभस्यशेषा: ।
अनन्तरं ते भृकुटी-विटङ्कात्स्फुरन्ति रोषानलविस्फुलिङ्गा:

हे राजन् ! शत्रुभूतराजाओं के नगर पहले भस्मशेष अर्थात् दग्ध हो जाते हैं और तेरी आँखों से क्रोधाग्नि की कणिकायें पीछे निकलती हैं।

इसमें शत्रुओं के नगरों का नाश कार्य है" और कोप कारण है। यहाँ कारण से पूर्व कार्य का वर्णन हुआ है अर्थात् कारणरूप होने से पहले होने वाले कोप का पीछे और कार्यरूप होने से पीछे होने वाले शत्रु-पुर-दाह का पहले वर्णन करने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार है।2

अतिशयोक्ति अलङ्कार के जो पाँच भेद स्वीकार किए गये हैं प्राचीन अलङ्कारिकों के मतानुसार उक्त पाँचों भेदों में से किसी भी एक भेद का होना ही अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण है। प्राचीन आलङ्कारियों के इसी मत का समर्थन आचार्य मम्मट ने भी किया है। उनके मतानुसार सम्बन्ध में असम्बन्ध और असम्बन्ध में सम्बन्ध ये दोनों भेद अतिशयोक्ति नहीं हैं, क्योंकि इस प्रकार के अतिशय का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार के अतिरिक्त उपमा, रूपक आदि सभी अलङ्कारों में होते हैं तथा यदि सम्बन्धासम्बन्ध वाले दो भेदों को अतिशयोक्ति मान लिया जाय तो कार्यकारण विपर्यय वाले जो भेद है वो भी इसी में अन्तर्भूत हो जायेंगे, क्योंकि वहाँ भी वास्तव में कार्यकारण पौर्वापर्य विपर्यय का सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध

का वर्णन रहता है अत: वह भी "असम्बन्धे संबंध:" के अन्तर्गत हो जाता है। यही कारण है कि विषय का विषयी के द्वारा निगरण अर्थात् अध्यवसान, विषय का अन्यत्व ,आदि शब्दों के द्वारा किसी असम्भव अर्थ की कल्पना और कार्य कारण भाव का विपर्यय इनमें से किसी एक भेद का होना भी अतिशयोक्ति की सामान्य परिभाषा है।

अत: रूय्यक ने जो "अतिशयोक्ति अलङ्कार के कार्य कारण पौर्वापर्य विपर्यय रूप भेद की कल्पना की है तथा उसका उल्लेख सादृश्यमूलक अतिशयोक्ति के अन्तर्गत करते हुए भी उसकी विरोधमूलकता को देखते हुए उसका विवेचन विरोधमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत किया है तथा "कार्यकारणयो: समकालत्वे पौर्वापर्यविपर्यये चातिशयोक्ति:" उसका जो यह लक्षण प्रस्तुत किया है, उचित ही है।

पंचम अध्याय

अलङ्कार-विवेचन

असङ्गति

विषम

सम

पंचम अध्याय

असङ्गति अलङ्कार

असङ्गति अलङ्कार कार्य-कारण-सम्बन्ध की असङ्गति पर अवलम्बित है। सामान्य रूप से जहाँ कारण रहता है वहीं उसके कार्य की उत्पत्ति होती है परन्तु काव्य में ऐसा नहीं है। काव्य में जहाँ कारण से भिन्न देश में कार्य की उत्पत्ति का चमत्कारपूर्ण वर्णन हो वहाँ असङ्गति अलङ्कार माना गया है। सबसे पहले रूद्रट ने ही असङ्गति अलङ्कार को एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए उसे अतिशयोक्तिमूलक अलङ्कार माना। उनके मतानुसार जहाँ स्पष्टतः एक ही काल में कार्य कहीं और कारण कहीं वर्णित हो वहाँ असङ्गति अलङ्कार होता है। आगे चलकर असङ्गति अलङ्कार को विरोधमूलक अलङ्कार माना गया।

आचार्य मम्मट के मतानुसार असङ्गति अलङ्कार का लक्षण है--

भिन्नदेशयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ।।

जहाँ कार्यकारणभूत दो धर्मों की भिन्नतया और (युगपत्) एक साथ प्रतीति हो वह (असङ्गति अलङ्कार) होता है। उदाहरणार्थ --

यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ।।

जिसके घाव होता है उसी को वेदना होती है {यह बात जो} लोग कहते हैं वह झूठ है {क्योंकि पति के द्वारा किया गया} दन्तक्षत वधू के गाल में है और {उसको देखकर} सपत्नियों के हृदय में वेदना होती है।

उपर्युक्त उदाहरण में कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना दोनों का विरोध भिन्नाधारतया ही प्रतीत हो रहा है इस कारण यहाँ असङ्गति अलङ्कार है।

रूय्यक ने भी कार्य और कारण की भिन्नदेशता असङ्गति अलङ्कार का लक्षण माना। उनके मतानुसार जब कारण तो दूसरे देश से सम्बद्ध होता है और कार्य दूसरे से तब उचित संगति न रहने के कारण असङ्गति नामक अलङ्कार होता है। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि जिस प्रकार विभावना में कार्यांश में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन आवश्यक होता है उसी प्रकार असङ्गति अलङ्कार में भी अतिशयोक्ति का अनुप्राणन आवश्यक होता है यदि अतिशयोक्ति {अभेदाध्यवसान} न रहे तो विरोध का परिहार ही नहीं हो सकेगा।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रूय्यक के इस मत का खण्डन किया है। उनके मतानुसार असङ्गति अलङ्कार में यह आवश्यक नहीं है कि कार्यांश में अतिशयोक्ति का ही अनुप्राणन हो। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि असङ्गति अलङ्कार में कार्यांश में अभेदाध्यवसान मात्र होना आवश्यक है चाहे वह अतिशयोक्ति के द्वारा हो, चाहे रूपक के द्वारा, अथवा श्लेष मात्र के द्वारा।

अप्पय दीक्षित ने भी रूय्यक आदि आचार्यों के ही मत का अनुसरण करते हुये जहाँ कारण तथा कार्य का दो भिन्न स्थलों में विरुद्ध अस्तित्व वर्णित किया जाय, वहाँ असङ्गति अलङ्कार माना। उनके मतानुसार यदि कार्य-कारण का

भिन्न देशगतत्व विरुद्ध न हो तो असङ्गति नहीं होगी । उन्होंने असङ्गति अलङ्कार के दो अन्य भेद भी स्वीकार किये[1]--

अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा ।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा ।।

असङ्गति का एक अन्य भेद वह है जहाँ किसी विशेष स्थान पर करणीय कार्य को वहाँ न कर, दूसरे स्थान पर किया जाय। इसी का तीसरा भेद वह है, जहाँ किसी विशेष कार्य को करने में प्रवृत्त व्यक्ति उस कार्य विशेष को न कर उससे विरुद्ध कार्य को करे। उदाहरणार्थ-

अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन् द्यां तथाऽकृथा: ।
गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरो: ।।

{1} पृथ्वी को पारिजात से रहित {अपारिजातां, अन्य पक्ष में शत्रुओं से रहित} करने की इच्छा वाले कृष्ण ने स्वर्ग को वैसा {अपारिजात-कल्पवृक्ष से रहित} बना दिया।

{2} वराहरूप में उन्होंने गोत्र {गोत्रा-पृथ्वी} के उद्धार में प्रवृत्त होकर भी गोत्र {गोत्रा-पृथिवी, गोत्र-पर्वत} का भेदन किया।

1- कुवलयानन्द, पृ0 151

उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में कृष्ण ने पृथ्वी पर करने योग्य कार्य "अपारिजातत्व" को पृथ्वी पर न करके स्वर्ग में किया तथा इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में भी वराहरूपीभगवान् ने जो गोत्रा के उद्धार में प्रवृत्त थे, अपने खुराघात से गोत्रों का भेदन किया। अर्थात् प्रथम उदाहरण में जो कार्य जिस स्थान पर होना चाहिए था उस विशेष स्थान पर न करके दूसरे स्थान पर किया गया है। वसुन्धरा को अपरिजात करने की इच्छा करते हुए स्वर्ग को अपारिजात कर दिया अत: यहाँ प्रथम प्रकार की असङ्गति है तथा इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में किसी विशेष कार्य को करने में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा उस कार्य को न करके अन्य कार्य को करने के कारण अर्थात् गोत्रोद्धार में प्रवृत्त वराहरूपधारी विष्णु ने अपने खुराघात से गोत्रों का भेदन कर दिया। अत: यहाँ दूसरे प्रकार की असङ्गति है। अथवा जैसे --

त्वत्खड्गखण्डितसपत्नविलासिनीनां

भूषा भवन्त्यभिनवा भुवनैकवीर ।।

नेत्रेषु कङ्कणमथोरुषु पत्रवल्ली

चोलेन्द्रसिंह । तिलकं करपल्लवेषु ।।

हे संसार के अकेले वीर, हे चोलेन्द्र सिंह, तुम्हारे खड्ग के द्वारा मारे गये शत्रु राजाओं की स्त्रियों की नई ढंग से सजावट दिखाई देती है। उनके नेत्रों में कंकण, जाँघों में पत्रवल्ली तथा करपल्लवों में तिलक पाये जाते है।

उपर्युक्त उदाहरण में कंकण, पत्रवल्ली तथा तिलक नारियों के हाथ, कपोल तथा ललाट के श्रृंगार हैं परन्तु वे यहाँ न पाकर अर्थात् उक्त स्थानों में न होकर अन्यत्र अर्थात् आँख, उरूयुगल तथा करपल्लव में पाये जाते हैं। अत: यह दूसरे प्रकार की असङ्गति का उदाहरण है।

तथा--

मोहं जगत्रयभुवामपनेतुमेत-

ददाय रूपमखिलेश्वर । देहभाजाम् ।

निःसीमकान्तिरसनीरधिनामुनैव

मोहं प्रवर्धयसि मुग्धविलासिनीनाम् ।।

हे कृष्ण, तुम तीनों लोकों के देहधारियों के मोह का अपहरण करने के लिए, इस रूप को लेकर, अत्यधिक कान्ति के समुद्र इसी रूप के द्वारा सुंदरियों के मोह को बढ़ाते हो ।

प्रस्तुत उदाहरण में कृष्ण ने समस्त लोकों के देहधारियों के मोह का अपहरण करने के लिए अर्थात् मोह को दूर करने के लिए इस रूप को धारण किया है किन्तु उसी रूप से वे मोह दूर करने के विपरीत मोह को बढ़ा ही रहे हैं। अतः यहाँ तृतीय प्रकार की असङ्गति है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने थोड़े परिष्कार के साथ असङ्गति अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए अप्पय दीक्षित के असङ्गति अलङ्कार के उक्त दोनों भेदों का खण्डन किया है। उनके मतानुसार असङ्गति अलङ्कार का लक्षण है--

विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः[1]।

कारण और कार्य की उसभिन्नदेशता को असङ्गति कहते हैं जो आपाततः (ऊपर ऊपर से) विरुद्ध प्रतीत होती है।

अर्थात् विरुद्ध प्रतीत होने वाला कार्य-कारण का वैयधिकरण्य ही

असङ्गति अलङ्कार है । कहने का अभिप्राय यह है कि कार्य कारण आदि का अलग-अलग वर्णन होने पर भी यदि उसमें विरोध की प्रतीति नहीं होती तो वहाँ पर असङ्गति अलङ्कार नहीं होगा । यही कारण है कि इस लक्षण में वैयधिकरण्य (कार्यकरण की भिन्न देशता) का विशेषण आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने वाला कहा गया है।

उदाहरणार्थ--

"अङ्गैः सुकुमारतरैः सा कुसुमानां श्रियं हरति ।
प्रहरति हि कुसुमबाणो जगतीतलवर्तिनो यूनः ।।"

वह (वर्णनियनायिका) अपने अत्यन्त कोमल अङ्गों से पुष्पों की श्री (शोभा+संपत्ति) का हरण करती है और कुसुमायुध (कामदेव) पृथ्वीतल पर रहने वाले- अर्थात् सभी युवकों पर प्रहार करता है।

उपर्युक्त उदाहरण में कुसुम-श्री-हरण रूप अपराध और ताडन रूप दण्ड एक ही व्यक्ति में न रहकर अलग अलग व्यक्तियों में है अतः यह असङ्गति अलङ्कार का उदाहरण है। इस उदाहरण में "प्रहरति" इस पद से अपराध के कारण होने वाले ताडन और कामपीडा दोनों का बोध होता है। यह दोनों अर्थ अभेदाध्यवसान रूप अतिशय के द्वारा एक रूप हो गये हैं या यह भी कहा जा सकता है कि उपर्युक्त उदाहरण में "प्रहरति" इस अंश में अभेदाध्यवसान रूप अतिशय के द्वारा अपराधहेतुक-ताडन के रूप में "कामपीडा" अवस्थित है। यहाँ "कामपीडा " जो है वह विषय और "अपराधहेतुकताडन" जो हैवह विषयी है। यहाँ पर अपराधहेतुक ताडन जो

विषयी अंश है इसी के आधार पर पहले तो विरोध की प्रतीति होती है परन्तु जैसे ही कामपीडा रूप अर्थ का ज्ञान होता है वैसे ही वह विरोध निवृत्त हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ पर "नायिका के शोभा विशेष के ज्ञान से युवकों को कामपीडा होती है इस अर्थ का ज्ञान होने पर उत्पन्न हुआ उक्त विरोध निवृत्त हो जाता है क्योंकि इस अर्थ का ज्ञान हो जाने पर शोभाविशेषज्ञान रूप कारण और कामपीडारूप कार्य दोनों की समानाधिकरणता हो जाती है। इस प्रकार असङ्गति अलङ्कार का अभेदाध्यवसान अनुप्राणक और विरोधाभास उत्कर्षक सिद्ध होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार अप्पय दीक्षित ने असङ्गति अलङ्कार के जो उक्त दो भेद किये हैं उनमें प्रथम अर्थात् " अपारिजातम् " इस उदाहरण में पारिजात से रहित कर देने की इच्छा है कारण और पारिजात का अभाव कार्य है तथा इन कार्य और कारण का भिन्न भिन्न अधिकरण में वर्णन हुआ है अत: इसमें "विरुद्ध-भिन्नदेशत्व कार्यहेत्वोरसङ्गति:" अर्थात् कार्य और कारण का भिन्न देशत्व होना यदि वह विरुद्ध प्रतीत होता है तो असङ्गति होती है इस प्रथम असङ्गति लक्षण की ही व्याप्ति हो जाती है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय असङ्गति में कोई भेद नहीं रह जाता। जिस आलम्बन या आधार में कार्य करने की इच्छा होगी वहीं कार्य होगा यह नियम है। परन्तु यहाँ पर चिकीर्षा और उसका कार्य भिन्न-भिन्न देशों में वर्णित है अर्थात् उनका वर्णन भिन्न भिन्न देशों में किया गया है। पृथ्वी पारिजात से रहित हो जाय इस इच्छा से स्वर्ग का पारिजात रहित होना वर्णित हुआ है। यहाँ कार्य और कारण का भिन्न देशस्थ होना विरुद्ध प्रतीत होता है।

यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि पारिजात राहित्य का अर्थ हुआ पारिजात का अभाव अत: पारिजातराहित्य रूप कार्य अभावात्मक होने के कारण नित्य है और नित्य होने के कारण उसका कोई कारण नहीं हो सकता तो ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि नैयायिक भले ही अभाव को नित्य पदार्थ समझते हों लेकिन आलङ्कारिक ऐसा नहीं मानते । अलङ्कारशास्त्र में तो अभाव को भी कारण से जन्य मान लिया जाता है।

यदि पारिजातराहित्यचिकीर्षा और पारिजातराहित्य में कार्य कारण भाव न माना जाय तो भी वहाँ असङ्गति का प्रथम लक्षण ही संघटित होता, क्योंकि लक्षणगत "हेतुकार्ययो:" पद समानाधिकरणमात्र का बोधक है और पारिजातराहित्य और चिकीर्षा में कार्यकारणभाव हो या न हो समानाधिकरण रूप तो है ही क्योंकि पारिजातराहित्यविषयक जो इच्छा है उसका आधार जो देश होगा वहाँ पारिजात-राहित्य होगा। अत: यही बात सिद्ध होती है कि असङ्गति के प्रथम प्रकार में प्राचीन प्रकार से कोई विलक्षणता नहीं है।

इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के दूसरे उदाहरण अर्थात् "गोत्रोद्धार-" इस उदाहरण को भी विभावना से ही गतार्थ बताया है, क्योंकि इस उदाहरण में गोत्तोद्धारविषयक प्रवृत्ति विरुद्ध कारण है और इससे गोत्रदलन रूप विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हुयी है। अत: यहाँ "विरुद्धात्कार्यसम्पत्ति-दृष्टा काचिद्विभावना" इस लक्षण के अनुसार विभावना अलङ्कार ही होता है। इस कारण असङ्गति के द्वितीय प्रकार की कल्पना भी अनुचित ही है। यहाँ पर उन्होंने विभावना का संदेह-संकर ही उचित माना है। इसी प्रकार अप्पय दीक्षित

के "त्त्खड्ग-" और मोही- " इन दोनों उदाहरणों में भी उन्होंने विरोधाभास माना है। क्योंकि नेत्रखुक्कु·णम्" इस उदाहरण में "कङ्कणत्व"और नेत्रालङ्कारत्व पृथक् पृथक स्थान पर रहने वाली वस्तुओं के रूप में अर्थात् व्यधिकरण रूप में प्रसिद्ध है परन्तु एक ही अधिकरण में वर्णन होने से वहाँ विरोधाभास है।

इसी प्रकार चतुर्थ उदाहरण में भी "मोहनिवर्तकत्व" तथा "मोहजनकत्व" ये दो धर्म भी व्यधिकरण रूप में प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहाँ मोहनिवर्तक को मोहजनक कहा गया है अर्थात् दोनों की एक ही स्थान पर स्थिति होने के कारण सामानाधिकरण वर्णित है। कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ कङ्कण नेत्रालङ्कार नहीं हो सकता और मोहनिवर्तक मोहजनक नहीं हो सकता । यह प्रसिद्ध है, फिर भी कङ्कण को नेत्रालङ्कार और मोहनिवर्तक को मोहजनक कहा गया है। अतः यहाँ पर विरोधाभास ही है, क्योंकि विरोधाभास में भी व्यधिकरण रूप से प्रसिद्ध दो वस्तुओं का समानाधिकरण्य वर्णित होता है।

यहाँ पर यदि यह शंका की जाय कि यहाँ भी तो विरोधाभास मानकर ही निर्वाह हो सकता था फिर विभावना आदि की कल्पना क्यों की गई। इस शंका के समाधान में यह बात कही जा सकती है कि विरोधमूलक सब अलङ्कारों में यद्यपि विरोधालङ्कार से भिन्न शुद्ध विरोध का अंश अनुस्यूत रहता है, लेकिन वह तो कुछ अलङ्कारों का संपादक होता है, वह स्वयं अलङ्कार रूप नहीं होता । यदि यह कहा जाय कि विभावना विरोधाभास में ही अन्तर्भूत हो जाती है इसलिए उसे स्वतन्त्रअलङ्कार नहीं माना जा सकता तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विरोध में समान बल वाले अर्थों का विरोध रहता है। और

विभावना में कारण के अभाव के कारण कार्य की उत्पत्ति बाध्य रहती है। विरोध में भिन्न देश में रहनेवाले पदार्थों का एक देश में रहना वर्णित होता है, जबकि असङ्गति में साधारणत: एक देश में रहने वाले पदार्थों की भिन्न देशता दिखाई जाती है। विरोधाभास अलङ्कार का विषय सामान्य रूप से विरोध है, परन्तु असङ्गति अलङ्कार का विषय कार्य-कारण की भिन्न देशता रूप विशेष प्रकार का विरोध है।

इस प्रकार सभी आचार्यों ने कार्यकारणभूत दो धर्मों की भिन्नदेशतया और एक साथ प्रतीति को ही असङ्गति अलङ्कार का लक्षण माना है तथा कुछ आचार्यों ने असङ्गति अलङ्कार को स्वतन्त्र अलङ्कार न मानकर विरोध अलङ्कार का ही एक भेद माना है, परन्तु असङ्गति को विरोध का ही एक भेद मानना उचित नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि असङ्गति अलङ्कार और विरोध अलङ्कार में अन्तर है। विरोधालङ्कार में जो जो पदार्थ दो भिन्न आधारों में रहने वाले के रूप में प्रसिद्ध हो उन दो पदार्थों की स्थिति किसी एक आधार में वर्णित होती है तथा असङ्गति अलङ्कार में जो दो पदार्थ एक आधार में रहने वाले के रूप में प्रसिद्ध हों उन दोनों पदार्थों की स्थिति दो भिन्न आधारों में वर्णित होती है। इसी कारण असङ्गति अलङ्कार के उक्त लक्षण में "हेतुकार्ययो:" अर्थात् "हेतु" और "कार्य" पद से उन सभी पदार्थद्वय की विवक्षा है जो एक ही आधार में रहने वाले हैं। एक ही कार्य के कारण का वैयधिकरण्य असङ्गति का अलङ्कारत्व है। इस अलङ्कार में कारण और कार्य का भिन्न भिन्न देश में एक साथ वर्णन होता है जो कि आपातत: विरुद्ध प्रतीत होता है। यही इस अलङ्कार की विरोधमूलकता है।

विषम अलङ्कार

विषम अलङ्कार की गणना विरोधमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत की गयी है। वैषम्य विरोध का महत्वपूर्ण तत्त्व है। अलङ्कारों की साम्य मूलकता की विपरीत स्थिति ही है वैषम्यमूलकता। जहाँ कार्य और कारण के गुणों में अथवा क्रियाओं में परस्पर विरोध हो वहाँ विषम अलङ्कार होता है। रुद्रट ने वास्तवमूलक तथा अतिशयमूलक तथा अतिशयमूलक अलङ्कारों में विषम अलङ्कार की कल्पना की। वास्तव वर्गगत विषम के अनेक रूपों की कल्पना उन्होंने की। उनके मतानुसार विषम अलङ्कार में जहाँ वक्ता दो अर्थों (वस्तुओं) में अविद्यमान सम्बन्ध की कल्पना किसी दूसरे के मत से करके पुन: उसे) तोड़ देता है[1] अर्थात् दूसरों के द्वारा उनके बीच सम्बन्ध कल्पना की सम्भावना कर उसका खण्डन करता हो वहाँ विषम का एक रूप तथा जहाँ दो अर्थों में विद्यमान सम्बन्ध का अनौचित्य प्रकट किया जाता है, अथवा असम्भव वस्तु की सत्ता बतायी जाती है, वहाँ विषम का अन्य रूप होता है। उन्होंने विषम अलङ्कार के चार भेद माने है जहाँ कर्त्ता किसी कार्य वश (1) थोड़ा सा भी कार्य नहीं करता, (2) बहुत-सा कार्य करता है, (3) हीन होता हुआ भी कार्य कर देता है, तथा (4) समर्थ होता हुआ भी कार्य नहीं करता। विषम अलङ्कार के एक और रूप की कल्पना रुद्रट ने की है। उनके अनुसार जहाँ कार्य के नाश हो जाने के कारण कर्ता को न केवल क्रिया का फल ही न मिले अपितु अनर्थ

1- काव्यालङ्कार - 7/47

भी हो जाए उसे विषम कहते हैं।[1] अतिशयमूलक विषम अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने यह बात कही है कि जहाँ कार्य और कारण से सम्बद्ध गुणों अथवा क्रियाओं का परस्पर विरोध हो वहाँ विषम अलङ्कार होता है।[2] कहने का अभिप्राय यह है कि कारण के गुण से उसके कार्य के गुण का तथा कारण की क्रिया से उसके कार्य की क्रिया में विरोध होने पर विषम अलङ्कार होगा।

आचार्य मम्मट के मतानुसार विषम अलङ्कार का लक्षण है--

> क्वचिद्यतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
> कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ।।
> गुण क्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
> क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ।।

(1) जहाँ (सम्बन्धियों के) अत्यन्त वैधर्म्य के कारण जो उनका सम्बन्ध न बनता प्रतीत हो (वह एक प्रकार का विषमालङ्कार होता है और दूसरे प्रकार का विषम अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ कि) (2) कर्त्ता को (अपनी) क्रिया के (अभीष्ट) फल की प्राप्ति न हो और उलटा अनर्थ हो जाय (तो वह दूसरे प्रकार का विषमालङ्कार कहलाता है) और (3) कार्य के गुण तथा (4) क्रिया से जो कारण के

1- काव्यालङ्कार 7/54

2- काव्यालङ्कार 9/45

गुण तथा क्रिया का क्रमश: वैपरीत्य हो वह तीसरे तथा चौथे प्रकार का विषम {अलङ्कार } होता है।

उदाहरणार्थ --

{1} शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायत लोचना ।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानल: ।।

शिरस {के फूल} से भी अधिक कोमल अङ्गों वाली कहाँ यह दीर्घलोचना {नायिका} और कहाँ तुषाग्नि के समान असह्य यह कामाग्नि ।

उपर्युक्त उदाहरण में मदनानल और नायिका दोनों सम्बन्धी हैं और दोनों सम्बन्धियों के अत्यन्त विलक्षण होने से अर्थात् सम्बन्धियों के वैधर्म्य के कारण उनका सम्बन्ध अनुपपन्न-सा प्रतीत हो रहा है इसलिए यह विषमालङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण है श्लोक में दो बार जो क्व शब्द का प्रयोग हुआ है इस क्व शब्द के प्रयोग से नायिका तथा मदनानल के सम्बन्ध की अनुपपद्यमानता व्यङ्ग्य है।

{2} सिंहिकासुतसन्त्रस्त: शश: शीतांशुमाश्रित: ।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्य: सिंहिकासुत: ।।

शेरनी के बच्चे से भयभीत होकर हरिण {अपनी रक्षा के लिए} चन्द्रमा की शरण में गया किन्तु {वहाँ भी उसकी रक्षा न हो सकी बल्कि वहाँ } उसको {दूसरे सिंहिकापुत्र अर्थात्} राहु ने आश्रय {अर्थात्} चन्द्रमा के सहित ग्रस लिया ।

प्रस्तुत उदाहरण में कर्त्ता जो है मृग है, यहाँ शेर से बचने के लिए मृग ने

चन्द्रमा की शरण ली थी परन्तु उसको अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो सकी उलटा अनर्थ ही हो गया अर्थात् उलटे राहु के द्वारा आश्रय सहित ग्रस लिये जाने से अनर्थ की प्राप्ति हो गयी अत: यह उदाहरण विषम अलङ्कार के दूसरे भेद का उदाहरण है।

(3) सद्य: करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ।।

प्रत्येक युद्ध में जिसके हाथ का स्पर्श प्राप्त करके तमाल के समान नीलवर्ण की तलवार तुरन्त ही तीनों लोकों के अलङ्काररूप, शरदिन्दु के समान शुभ्र वर्ण के यश को उत्पन्न करती है।

इस उदाहरण में कार्यभूत यश और कारणभूत कृपाण दोनों के गुण एक दूसरे के विपरीत है। कृपाण जो है वह तमाल के समान नीलवर्ण की है परन्तु उससे जिस यश की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है वह शरदिन्दु के समान शुभ्रवर्ण है अर्थात् तमाल के समान नीलवर्ण कृपाण से शरदिन्दु के समान शुभ्र वर्ण की यश की उत्पत्ति वर्णित है अत: यह विषम अलङ्कार के तीसरे भेद का उदाहरण है।

(4) आनन्दममिमं कुवलयदललोचने ददासित्वम् ।
विरहस्त्वमैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ।।

हे कमल दल के समान नेत्रोंवाली (प्रिये) । तुम तो इस अमित आनन्द को प्रदान करती हो परन्तु तुमसे उत्पन्न हुआ विरह मेरे शरीर को अत्यन्त सन्तप्त कर रहा है।

उपर्युक्त उदाहरण में [कारणभूत नायिका का] आनन्ददान, [कार्यभूत विरह के] शरीरसन्ताप का विरोधी है। अर्थात् कारणभूत जो नायिका है वह अमित आनन्द को प्रदान करती है अत: कारण भूत नायिका की क्रिया आनन्द प्रदान करता है परन्तु उस नायिका से उत्पन्न हुआ कार्यभूत जो विरह है वह शरीर को अत्यन्त सन्तप्त करता है। कार्यभूत विरह की क्रिया है शरीर को सन्तप्त करना । अत: यहाँ कारण की क्रिया आनन्ददान और कार्य की क्रिया शरीर सन्ताप, इन क्रियाओं के विपरीत होने के कारण यह विषमालङ्कार के चौथे भेद का उदाहरण है।

इस प्रकार मम्मट ने भी रुद्रट द्वारा स्वीकृत विषम अलङ्कार के भेदों को स्वीकार किया। भेद केवल कहने के ढंग में है। रुद्रट के वास्तवमूलक विषम का एक रूप मम्मट द्वारा स्वीकृत विषम अलङ्कार का दूसरा भेद है तथा रुद्रट ने अतिशयमूलक विषम की कल्पना की है। मम्मट ने उसे विषम अलङ्कार के तीसरे और चौथे भेद के रूप में कल्पित किया तथा रुद्रट ने विषम अलङ्कार के जो अन्य चार भेद माने हैं अर्थात् जहाँ कर्त्ता किसी कार्यवश थोड़ा सा भी कार्य नहीं करता, बहुत सा कार्य करता है, हीन होता हुआ भी कार्य कर देता है, समर्थ होता हुआ भी कार्य नहीं करता उसे मम्मट ने अलङ्कार के स्वतन्त्र भेद के रूप में स्वीकृत नहीं किया।

रुय्यक ने भी मम्मट के ही मत का अनुसरण करते हुए विषम अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है--

विरूद्धकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ।।

प्रतिकूल कार्य और अनर्थ की उत्पत्ति तथा प्रतिकूल की संघटना विषम है।

रूय्यक ने विषम अलङ्कार के तीन भेद स्वीकार किये हैं- [1] विरूपकार्योत्पत्तिरूप विषम [2] अनर्थोत्पत्तिरूप विषम [3] विरूपसंघटनारूप विषम ।

कारण के गुण के अनुसार कार्य उत्पन्न होता है यह प्रसिद्ध होने पर भी जो प्रतिकूल कार्य उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है वह विषम का प्रथम भेद अर्थात् विरूपकार्योत्पत्तिरूप विषम है। तथा किसी इष्ट [अर्थ] की प्राप्ति में यदि कोई प्रवृत्त हो तो उस इष्ट की प्राप्ति में प्रवृत्त होने वाले को न केवल वह इष्ट प्राप्त न हो पर यदि अनिष्ट भी हो जाय तो यह विषम का दूसरा भेद अर्थात् अनर्थोत्पत्तिरूप विषम है। विरूप वस्तुओं की संघटना अथवा अत्यन्त बेमेल तथा विपरीत स्वरूप वालों का संघटन विषम का तीसरा भेद अर्थात् विरूपसंघटनारूप विषम है।

उदाहरणार्थ--

> सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
>
> तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ।।

तमाल की तरह नीली कृपाण-लेखा जिसके हाथों का विस्मयकारी स्पर्श पाकर हर संग्राम में शरद् के चन्द्र की भाँति धवल तीनों लोकों का आभूषणभूत यश तुरन्त उत्पन्न कर देती है।

उपर्युक्त उदाहरण में तमाल की तरह नीली कृपाण-लेखा से शरद् के चन्द्र की भाँति धवल यश की उत्पत्ति वर्णित है अर्थात् कृष्ण वर्ण से शुक्ल वर्ण की उत्पत्ति का वर्णन है। अतः यहाँ कारण के गुण के अनुसार कार्य की उत्पत्ति न होने से यह विषम अलङ्कार के प्रथम भेद विरूपकार्योत्पत्तिरूप विषम का उदाहरण है।

तीर्थान्तरेषु मलपङ्कवतीर्विहाय

दिव्यास्तनुस्तनुभृत: सहसा लभन्ते ।।

वाराणसि त्वयि तु मुक्तकलेवराणां

लाभोऽस्तु मूलमपि यात्यपुनर्भवाय ।।

दूसरे तीर्थ में शरीरधारी {जीव} पातक से पंकिल शरीर को छोड़कर दिव्य शरीर तुरन्त प्राप्त कर लेते हैं। पर काशी, तेरे यहाँ शरीर छोड़ने वालों को, लाभ तो जाने दो, मूल {शरीर} भी फिर लौट कर नहीं मिलता है।

प्रस्तुत उदाहरण में इष्ट अर्थ है पंकिल शरीर को छोड़कर दिव्य शरीर की प्राप्ति परन्तु इष्ट की प्राप्ति में प्रवृत्त होने वाले को दिव्य शरीर की प्राप्ति रूप इष्ट तो नहीं प्राप्त होता परन्तु मूल शरीर के सर्वथा विनाश-रूप दूसरे अनिष्ट की उत्पत्ति होने से यह विषम अलङ्कार के दूसरे भेद अर्थात् अनर्थोत्पत्तिरूप विषम का उदाहरण है।

अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्र: क्व स मृग:

क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतग: क्वेयमबला ।

क्व तत्कन्यारत्नं ललितमहिभर्तु: क्व च वयं

स्वमाकूतं धाता किमपि विभृतं पल्लवयति ।।

कहाँ तो यह {भीषण} जंगल और कहाँ सुवर्ण पहिने हुए वह हिरण । कहाँ यह मुक्ताधर और कहाँ वह पक्षी , कहाँ यह अबला , और कहाँ ललित महीपति का वह कन्यारत्न और कहाँ हम, विधाता अपने हृदय को छिपा छिपा कर प्रकट करता है।

इस उदाहरण में एकदम बेमेल बन आदि का अर्थात् विपरीत स्वरूप वाली वस्तुओं का संघटन होने से यह विषम अलङ्कार के तीसरे भेद विरूपसंघटनारूप विषम का उदाहरण है।

इस प्रकार रूय्यक ने भी मम्मट के ही मत का अनुसरण किया है तथा उन्होंने मम्मट द्वारा स्वीकृत विषम अलङ्कार के तीसरे भेद को प्रथम भेद माना है तथा उनके तीसरे भेद के उदाहरण को ही प्रथम भेद के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है तथा मम्मट के दूसरे भेद को उन्होंने विषम अलङ्कार के दूसरे भेद के रूप में स्वीकार किया है।

विश्वनाथ ने भी विषम अलङ्कार के स्वरूप-विवेचन में मम्मट और रूय्यक के ही मत को मानते हुए विषम अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है--

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरूद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वारन्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः ।।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ।

यदि कार्य और कारण के गुण या क्रियायें परस्पर विरूद्ध हों अथवा आरम्भ किया हुआ कार्य तो पूरा न हो प्रत्युत कुछ अनर्थ आ पड़े यहा दो विरूप पदार्थों का मेल हो तो वहाँ विषम अलङ्कार होता है।

विश्वनाथ ने रूय्यक के ही अनुसार विषम अलङ्कार के तीन भेद स्वीकार किये हैं। मम्मट द्वारा स्वीकृत विषम अलङ्कार के तीसरे और चौथे भेद को उन्होंने

प्रथम भेद के रूप में स्वीकार करते हुए उनके उदाहरणों को प्रथम भेद के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है तथा मम्मट तथा रूय्यक द्वारा स्वीकृत विषम अलङ्कार के दूसरे भेद को उन्होंने भी विषम अलङ्कार के दूसरे भेद के रूप में स्वीकार करते हुए उसका उदाहरण इस प्रकार दिया है-

अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभि।।

यह समुद्र रत्नों का आकार है, यह समझकर धन की आशा से हमने इसकी सेवा की थी, सो धन तो दूर रहा, यहाँ उलटा खारी पानी से मुँह भर गया।

उपर्युक्त उदाहरण में धन की आशा से जो समुद्र की सेवा रूपी कार्य आरम्भ हुआ था वह तो पूरा नहीं हुआ, प्रत्युत मुख में खारी पाने भरने से कुछ अनर्थ भी हुआ। अतः यह विषम अलङ्कार के दूसरे भेद का उदाहरण है।

दो विरूप पदार्थों के मेल को उन्होंने विषम अलङ्कार के तीसरे भेद के रूप में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ-

क्ववनं तरूवल्कभूषणं नृपलक्ष्मीः क्व महेन्द्रवन्दिता।
नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत धातुश्चरितं सुदुःसहम्।।

कहाँ वह वन जिसमें पेड़ों के वल्कलही शरीर के आभूषण होते हैं और कहाँ यह राज्यलक्ष्मी जिसकी इन्द्रादिक भी वन्दना करते हैं।

इस उदाहरण में वन और राज्यलक्ष्मी इन दोनों विरूप पदार्थों की योजना हुयी है अतः यह विषम अलङ्कार के तीसरे भेद का उदाहरण है।

कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित ने भी मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों की विषम-धारणा को ही स्वीकार किया है। उनके मतानुसार विषम अलङ्कार का लक्षण है-

विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः।
क्वेयं शिरीषमृद्वङ्गी, क्व तावन्मदनज्वरः।।

जहाँ दो अननुरूप पदार्थों का वर्णन किया जाय, वहाँ विषम अलङ्कार होता है, जैसे, कहाँ तो शिरीष के समान कोमल अंगवाली यह सुन्दरी और कहा अत्यधिक तापदायक (दुःसह) कामज्वर।

उपर्युक्त उदाहरण में अतिमृदुत्व तथा अतिदुःसहत्व रूप धर्मों के द्वारा दो अननुरूप अर्थात् परस्पर असदृश पदार्थों सुन्दरी तथा मदनज्वर का वर्णन किया गया है। अतः यह विषम अलङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण है। अथवा जैसे--

अभिलषसि यदीन्दो ! वक्त्रलक्ष्मीं मृगाक्ष्याः
पुनरपि सकृदब्धौ मज्ज सङ्क्षालयाङ्कम्।
सुविमलयमथबिम्बं पारिजातप्रसूनैः
सुरभय, वद नो चेत्त्वं क तस्या मुखं क।।

हे चन्द्रमा, यदि तुम हिरन के समान आँख वाली उस नायिका के मुख की कांति को प्राप्त करना चाहते हो, तो फिर एक बार समुद्र में डूब कर अपने कलङ्क को धो डालो, इसके बाद अपने निर्मल बिंब को पारिजात के फलों से सुगन्धित करो।

नहीं तो, बताओं, कहाँ तुम और कहाँ उस सुन्दरी का मुख?

प्रस्तुत उदाहरण में चन्द्रमा तथा नायिका-वदनकांति की अननुरूपता का वर्णन है। यह उदाहरण भी विषमअलङ्कार के प्रथम भेद का ही उदाहरण हैं यहाँ चन्द्रमा तथा नायिका-वदनकांति की अननुरूपता जो है वह कवितर्कित है।

विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्।
कीर्तिं प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका।।

जहाँ किसी कारण से अपने से भिन्न गुण वाले कार्य की उत्पत्ति हो, वहाँ दूसरा विषम होता है, जैसे हे राजन्, तेरी काली कटार श्वेत कीर्ति को जन्म देती है।

इस उदाहरण में काली वस्तु से धवल की उत्पत्ति हो रही है। यहाँ कारण के गुण के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का वर्णन नहीं हुआ है अतः यह विषम अलङ्कार के दूसरे भेद का उदाहरण है।

अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्।
भक्ष्याशयाऽहिम जूषां दृष्ट्वाखुस्तेन भक्षितः।।

जहाँ किसी इष्टार्थप्राप्ति के लिए किये प्रयत्न से अनिष्ट प्राप्ति हो, वह तीसरा विषम है, जैसे भोजन (खाद्य) की इच्छा से सर्पपेटी को देखकर उसमें प्रविष्ट चूहा सर्प के द्वारा खा लिया गया।

प्रस्तुत उदाहरण में इष्टार्थ की प्राप्ति के लिए किसी काम को करने वाले व्यक्ति को इष्टप्राप्ति तो नहीं हुयी, साथ ही उससे अनिष्टप्राप्ति भी हो गयी। अर्थात् खाद्य प्राप्ति की इच्छा से पेटी को देखकर उसमें घुसे चूहे को न केवल भक्ष्यालाभ {भक्ष्य की अप्राप्ति} हुवा, अपितु स्वयं अपने शरीर की भी हानि हो गयी अत: यह विषम अलङ्कार के तीसरे भेद का उदाहरण है।

इस प्रकार कुवलयानन्दकार ने भी रूय्यक के ही मतानुसार तीन प्रकार का विषम माना है अन्तर केवल इतना है कि रूय्यक का जो तृतीय भेद है वह अप्पयदीक्षित का प्रथम भेद है तथा रूय्यक का प्रथम, द्वितीय भेद अप्पय दीक्षित का द्वितीय, तृतीय भेद है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रूय्यक की ही तरह अननुरूप वस्तुओं के संसर्ग को विषम अलङ्कार का प्रधान लक्षण माना है। उनके मतानुसार विषम अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है-

अननुरूपसंसर्गो विषमम्।।

उस संसर्ग {संबन्ध} विशेष को "विषम" कहते हैं जो अननुरूप {अयुक्त} हो।

दो वस्तुओं का ऐसा सम्बन्ध जो अनुकूल न हो विषम अलङ्कार का विषय होता है।

अननुरूप पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

"रूपस्य योग्यमिति अनुरूपम्"- "अनुरूप" शब्द का अर्थ "योग्यता" {अनुकूलता} होता है। "अनुरूपम्" यह पद योग्यता अर्थ में अव्ययीभाव समास करने पर बनता है।

"अनुरूपं यत्र न विद्यते इति अननुरूपम्" -- "अननुरूप" शब्द का अर्थ है "अनुरूप नहीं है जिसमें इस विग्रह से युक्त बहुव्रीहि समास के द्वारा योग्यता-रहित होता है योग्यता रहित जो सम्बन्ध है वह सम्बन्ध ही विषम अलङ्कार है। योग्यता का तात्पर्य साधारण रूप से "ये उचित है" इस रूप में लिया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस सम्बन्ध के विषय में "यह अनुचित है अथवा "उचित नहीं है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वही सम्बन्ध अननुरूप है और उसे ही विषम अलङ्कार का स्थल माना जाता है।

सामान्यत: संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है-- ॥1॥ उत्पत्तिरूप संसर्ग और ॥2॥ संयोगादिरूप संसर्ग। इनमें से उत्पत्तिरूप संसर्ग की अयोग्यता दो प्रकार से होती है-- एक कारण के गुणों से विलक्षण गुण वाले कार्य की उत्पत्ति होने पर तथा दूसरी उत्पत्तिसंसर्ग की अयोग्यता इष्ट को सिद्ध करने का जो साधन है अर्थात् इष्ट साधन रूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति होने पर ।

संयोगादिरूप संसर्ग की अयोग्यता तब होती है जब दो सम्बन्धियों में से एक के गुण तथा स्वरूप से दूसरे सम्बन्धी के गुण तथा स्वरूप तिरस्करणीय हों । "अनुरूप संसर्गता" जो विषम अलङ्कार का लक्षण दिया है उसमें विषम अलङ्कार के सभी भेद समाविष्ट हो सकते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने विषम अलङ्कार के जिन भेदों का निरूपण किया है, रुय्यक और अप्पय दीक्षित ने वैसे तो इनमें से अधिकांश भेदों को स्वीकार तो किया था परन्तु उनका इस प्रकार से क्रमिक विभाजन पं० जगन्नाथ ने ही किया जो

इस प्रकार है--

विभ्रम का उत्पत्तिरूप संसर्ग दो प्रकार का होता है जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है- एक कारण के गुणों से विलक्षण गुण वाले कार्य की उत्पत्ति होने पर और दूसरा इष्ट साधन के रूप में निश्चित कारण से अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति होने पर इनमें से अनिष्ट कार्योत्पत्ति के भी ये उपभेद बताये गये हैं-- इष्ट कार्य की अनुत्पत्ति और अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति ये दोनों बातें जहाँ एक साथ हों वह एक भेद है तथा केवल इष्ट कार्य की अनुत्पत्ति यह दूसरा भेद है और केवल अनिष्ट कार्य की उत्पत्ति यह तीसरा भेद है। ये तीनों भेद अनिष्टकार्योत्पत्ति शब्द से ही संगृहीत हो जाते हैं। इन भेदों में इष्ट तथा अनिष्ट के भी अनेक भेदों की कल्पना की है। उनके मतानुसार इष्ट चार प्रकार का होता है--﴾1﴿ अपने किसी सुखसाधन वस्तु की प्राप्ति ﴾2﴿ अपने किसी दु:खसाधन वस्तु की निवृत्ति और ﴾3﴿ विरोधीजन के किसी दु:खसाधन वस्तु की प्राप्ति तथा ﴾4﴿ विरोधीजन के सुख साधन वस्तु की निवृत्ति ।

इस प्रकार से इष्ट के चार प्रभेद होने के कारण इष्ट की अप्राप्ति वाले दो भेदों अर्थात् ऊपर बताये गये तीन भेदों में से प्रथम तथा द्वितीय के भी चार-चार उपभेद हो जाते हैं। अनिष्ट भी तीन प्रकार का होता है-- ﴾1﴿ अपने दु:खसाधन रूप वस्तु विशेष की प्राप्ति ﴾2﴿ दूसरे के सुखसाधन रूप वस्तु की प्राप्ति और ﴾3﴿ दूसरे के दु:खसाधन रूप वस्तु का नाश ।

यहाँ इष्ट की अप्राप्ति भी अनिष्ट की श्रेणी में आती है, अत: अनिष्ट भी चार प्रकार का होना चाहिए लेकिन इष्ट वस्तु की अप्राप्ति की स्वतन्त्र रूप से

गणना हो चुकी है इसी कारण अनिष्ट में इसकी गणना नहीं की गयी है।

इस प्रकार अनिष्ट प्राप्ति वाले दोनों भेदों अर्थात् अपर अनिष्ट प्राप्ति के जो तीन भेद बताये गये हैं उन तीन भेदों में से प्रथम भेद तथा तृतीय भेद के भी तीन तीन भेद उपभेद हो जाते हैं।

इन्हीं इष्ट और अनिष्ट के आधार पर अर्थात् पूर्वोक्त चार भेदवाली इष्टप्राप्ति की पूर्वोक्त तीन भेद वाले अनिष्ट के साथ संसृष्ट होने पर इसी इष्टाप्राप्ति और अनिष्टाप्राप्ति दोनों के द्वारा होने वाली संसर्ग की अनुरूपता के बारह प्रकार हो जाते हैं। इनमें कुछ भेदों के उदाहरण इस प्रकार हैं--
उत्पत्तिरूप संसर्ग की अयोग्यता के प्रथम भेद का उदाहरण--

अमृत-लहरी-चन्द्र-ज्योत्सन-रमा-बदनाम्बुजा-
न्यधरितवतो निर्मयदिप्रसाद-महाम्बुधेः ।
उदभवदयं देव त्वत: कथं परमोल्बण-
प्रलय -दहन-ज्वाला -जालाकुल्ये महाां गण: ।।

हे राजन् ! आपने अमृत की लहरी चन्द्रमा की चाँदनी और लक्ष्मी के मुखकमल को अपने सामने तुच्छ कर दिया है और आप असीम प्रसन्नता के महासमुद्र हैं, ऐसे आपसे यह परम प्रचण्ड प्रलयाग्नि के ज्वाला-जाल से परिपूर्ण प्रताप-पुंज कैसे उत्पन्न हुआ?

अमृतलहरी आदि को नीचा दिखाने वाले अर्थात् सदा मधुर तथा शीतल रहने वाले आपसे प्रलयाग्नि के तुल्य प्रताप-राशि की उत्पत्ति प्रतिकूल होने के कारण आश्चर्यजनक प्रतीत होती है।

उपर्युक्त उदाहरण में तिरस्कार द्वारा द्युचित माधुर्य, चन्द्रकाध:करण द्वारा सुचित शैत्य और लक्ष्मी-मुखकमलकदर्थना द्वारा अवगत आह्लादकत्व एवं प्रसन्नता आदि अनेक गुणों से युक्त जो कारण है उनसे उन गुणों से विरुद्ध गुण वाले प्रतापरूप कार्य की उत्पत्ति का वर्णन है। अत: यहाँ अपने गुणों से विलक्षण गुण वाले कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने से अर्थात् कार्य कारण भाव के अनुरूप न होने के कारण यह प्रथम प्रकार के विषम का उदाहरण है।

उत्पत्तिरूप संसर्ग की अयोग्यता के द्वितीय भेद का उदाहरण --

> दूरीकर्तुं प्रियं बाला पद्मेनाताडयद्रुषा ।
>
> स बाणेनाहतस्तेन तामाशु परिषस्वजे ।।

मुग्ध नायिका ने क्रोध के कारण प्रिय को दूर हटने के लिए कमलपुष्प से ताडित किया, उस पुष्प रूप कामबाण से आहत प्रिय ने तत्काल उसका आलिङ्गन कर लिया ।

प्रस्तुत उदाहरण में इष्ट कार्य है प्रिय को दूर करना और इस "प्रियदूरीकरण" रूप "इष्ट" के लिए नायिका द्वारा किये गये "पद्म-ताडन" रूप कारण से इष्ट की सिद्धि तो नहीं हुयी- प्रिय दूरस्थ नहीं प्रत्युत अनिष्ट की उत्पत्ति हो गयी अर्थात् प्रिय ने हटने के बदले और कस कर उसका आलिङ्गन कर लिया। अत: प्रिय के द्वारा आलिङ्गन रूप अनिष्ट ही सिद्ध हो गया। इस प्रकार यह उदाहरण इष्ट के लिए प्रयुक्त कारण से इष्ट की अनुत्पत्ति का उदाहरण है। वैसे तो यह उदाहरण इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति दोनों का उदाहरण है क्योंकि यहाँ प्रिय का दूर न हटना अर्थात् प्रियदूरीकरणरूप इष्ट की अप्राप्ति तथा प्रिय के द्वारा

आलिङ्गन रूप अनिष्ट की प्राप्ति दोनों का ही वर्णन है।

इस प्रकार अन्य भेदों का भी उदाहरण दिया गया है।

संयोगादिरूप संसर्ग की अननुरूपता का उदाहरण --

वनान्त: खेलन्ती शशकशिशुमालोक्य चकिता
भुजप्रान्तं भर्तुः श्रयति भयहर्तुः सपदि या ।
अहो सेयं सीता शिव शिव परीता श्रुतिचलत् -
करोटीकोटीभिर्वसति खलु रक्षोयुवतिभिः ।।

वन के मध्य में खेलती जो सीता खरगोश के एक बच्चे को देखकर चकित हो जाती थी और भयभंजक पति रामचन्द्र के भुजप्रान्त का आश्रय ले लेती थी, खेद है कि वही सीता, मनुष्य के शिर की हड्डियाँ जिनके कानों पर झूल रही है उन तरूणी राक्षसियों से घिरी हुई होकर (लङ्का में) निवास करती है, आश्चर्य है।

उपर्युक्त उदाहरण में सीता तथा राक्षसियों का समान अधिकरण रूप संयोग जो है विरूद्ध होने के कारण अननुरूप है। सीता तथा राक्षसियों की सह स्थिति अर्थात् एक स्थान में रहना विरूद्ध है। सीता सौन्दर्य-सौकुमार्य आदि गुणों से युक्त एक स्त्री है और राक्षसी उनके विरूद्ध नाश कर देने वाली क्रूर प्रवृत्ति आदि गुणों से युक्त हैं। अत: दोनों के स्वरूप तथा गुण एक दूसरे के विपरीत हैं अर्थात् सीता के गुण तथा स्वरूप से राक्षसी गुण तथा स्वरूप तिरस्करणीय है। अत: यह संयोगादिरूप संसर्ग की अननुरूपता का उदाहरण है।

यहाँ पर इस उदाहरण में एक शङ्का होती है कि सीता तथा राक्षसियों का एक जगह होना लौकिक सत्य है। अत: इस उदाहरण में सीता तथा राक्षसियों

के संसर्ग की अनुरूपता जो प्रतिपादित की गयी है वह लौकिकी होने के कारण कविप्रतिभा की अपेक्षा नहीं रखती अर्थात् उसमें कवि की प्रतिभा का कोई स्थान नहीं है। अतः यह अलङ्कार नहीं है। क्योंकि इसे संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता का उदाहरण माना जाता है तो निम्नलिखित उदाहरण को भी संयोगादिरूप संसर्ग की अननुरूपता का उदाहरण मानना होगा-

क्व शुक्तयः क्व वा मुक्ताः क्व पङ्कः क्व च पङ्कजम् ।
क्व मृगाः क्व च कस्तूरी धिग् विधातुर्विदग्धताम् ।।

कहाँ सीपें और कहाँ मोती, कहाँ कीचड़ और कहाँ कमल, कहाँ मृग और कहाँ कस्तूरी, विधाता की विदग्धता (निपुणता) को धिक्कार है (जिसने ऐसे जोड़े मिलाये) ।

इस उदाहरण में केवल वस्तुस्थिति कथन है और वस्तुस्थिति -कथन लोकसिद्ध होने के कारण अलङ्कार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केवल कविप्रतिभोत्थित पदार्थ ही अलङ्कार की संज्ञा से अभिहित होते हैं उसी में चमत्कार होता है। अलङ्कार का विषय वही अर्थ होता है जो लोक में असिद्ध हो तथा कविकल्पना से उद्भूत हुआ हो।

अतः संयोगादिरूप संसर्ग की अननुरूपता का उदाहरण है--

क्व सा कुसुमसाराङ्गी सीता चन्द्रकलोपमा ।
क्व रक्षःखदिराङ्गारमध्य-संवास-वैशसम् ।।

कहाँ वह कुसुमसार {श्रेष्ठ कुसुम} के समान अङ्ग•ों वाली चन्द्रकला-तुल्या सीता और कहाँ बेर के अङ्कुरों के समान राक्षसों के मध्य निवास रूपी क्रूरता?

उपर्युक्त उदाहरण में यद्यपि केवल सीता और केवल राक्षसियों के संसर्ग की अननुरूपता है फिर भी वह कवि का विवक्षित नहीं है। कुसुमसार के समान कोमल अङ्ग•ों वाली चन्द्रकला के समान सीता का एवं बदिराङ्कुरवत् क्रूर स्वभाव वाली राक्षसियों का एक साथ रहना विवक्षित है जिसमें कोमलता और क्रूरता का एक स्थान पर होना कवि कल्पना से समुद्भूत है। कहने का अभिप्राय यह है कि पुष्प के समान कोमल अङ्ग•ों वाली सीता बदिराङ्कुरतुल्य राक्षसी-समूह के सहवास की जो अननुरूपता है वह लौकिक नहीं है, यह कवि प्रतिभोत्थित है। अतः यह उदाहरण संयोगादिरूप संसर्ग की अयोग्यता का उदाहरण है।

इसी आधार पर पण्डितराज जगन्नाथ ने, रुय्यक ने जो संयोगादिरूप संसर्ग की अननुरूपता का उदाहरण दिया है उसका खण्डन किया है। उनके मतानुसार संयोगादिरूप संसर्ग की अननुरूपता का "अरण्यानी-" यह जो उदाहरण दिया है जिसका उल्लेख किया जा चुका हैयह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ पर जो प्रतिपाद्य अर्थ है वह कविप्रतिभोत्थापित नहीं है। अतः उसे अलङ्कार की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के "अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् अर्थात् इष्ट के लिए किये गये प्रयत्न से अनिष्ट की प्राप्ति होने पर विषम होता है इस भेद के लक्षण तथा उसके दोनों उदाहरणों का खण्डन किया है। उनके मतानुसार कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित ने विषम अलङ्कार के इस भेद का जो लक्षण

दिया है अर्थात् इष्ट की अप्राप्ति रूप भेद माना है वह ठीक नहीं है क्योंकि यह लक्षण "अपि" शब्द से संगृहीत है। अत: "अपि" शब्द से संगृहीत होने के कारण इससे "इष्टाप्राप्ति" का भी ग्रहण हो जाता है। अत: केवल अनिष्टाप्राप्ति रूप इन दोनों भेदों का भी विषम पद के साथ अन्वय होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनिष्टप्राप्ति तथा इष्टाप्राप्ति इन दोनों का साथ-साथ होने पर बनने वाले भेद, केवल अनिष्टप्राप्ति मूलक भेद और केवल इष्टाप्राप्ति मूलक भेद-इन तीनों भेदों का संग्रह होता है। इस प्रकार केवल अनिष्ट प्राप्ति तथा केवल इष्टानवाप्ति दो प्रकार का विषम होता है ऐसा कहना उचित नहीं है। इस लक्षण से "इष्ट की प्प्राप्ति" रूप भेद का संग्रह जो कि अप्पय दीक्षित को मान्य है नहीं हो पाता। इसके स्पष्टीकरण में उन्होंने यह बात कही है कि "अस्मिन्ग्रामे देवदत्तस्य द्रव्यस्यापि लाभोऽस्ति" इत्यादि उदाहरण में द्रव्य शब्द के आगे आये हुए अपि शब्द द्वारा संगृहीत विद्यादि का द्रव्य के अन्वयी (लाभ) में ही अन्वय होने के कारण "द्रव्य का लाभ और विद्यादि का लाभ" ऐसा ही बोध होता है यह निर्विवाद है। उपर्युक्त लक्षण में अपि शब्द "अनिष्ट" के पश्चात् आया है। अत: अपि शब्द से प्रतीत होने वाले इष्ट का सम्बन्ध भी उसी से होगा जिससे अनिष्ट का सम्बन्ध है। अनिष्ट का सम्बन्ध अवाप्ति से है इसलिए "इष्ट" का सम्बन्ध भी अवाप्ति से होना चाहिए यह कहना विषम के विपरीत है। प्रस्तुतवाक्य में "अनिष्ट" का अन्वय तो "अवाप्ति" के साथ है और अपि शब्द से लब्ध इष्टा प्राप्ति का विषम के साथ। अत: अपि शब्द द्वारा संगृहीत होने वाले पदार्थ का अन्वय भी वहीं होना उचित है जहाँ अपि शब्द प्रागवर्ती पद के अर्थ का होता है।

इसी प्रकार उन्होंने इस भेद के उदाहरण का भी खण्डन किया है। उनके मतानुसार पण्डितराज जगन्नाथ ने जो "भक्ष्याश्याऽहि जूषां इष्टाग्रस्तेन मक्षित:" यह जो उदाहरण दिया है उनमें "न्यूनपदता" दोष है। क्योंकि इस उदाहरण में "दृष्टा" में क्त्वा प्रत्यय का योग है "क्त्वा" प्रत्यय का प्रयोग "समानकर्तृकयो: पूर्वकाले" इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार तभी होता हैजब एक ही कर्ता के द्वारा की गयी दो क्रियाओं का क्रमिक वर्णन हो तथा दोनों क्रियाओं में से प्रथम क्रिया के साथ उसका प्रयोग होता है किन्तु यहाँ दूसरी क्रिया का अभाव है। अत: उत्तरकालवर्तिनी किसी अन्य क्रिया का यहाँ प्रयोग नहीं हुआ है तथा उस तरह की किसी दूसरी क्रिया का भी आक्षेप न होने से "प्रविष्ट" पद की आकाङ्क्षा बनी रहती है। यहाँ इस उदाहरण में दंशन क्रिया का कर्ता चूहा है और भक्षण क्रिया का कर्ता सर्प है। अत: क्त्वा प्रत्यय अनुपपन्न है। चूहा रूप कर्ता के द्वारा दंशन रूप एक ही क्रिया का अन्वय होता है। कर्ता (चूहा) के द्वारा की गयी कोई दूसरी क्रिया उक्त नहीं है। यदि वहाँ पर "प्रविष्ट:" इत्यादि कोई क्रियाबोधक पद होता तो क्त्वा प्रत्यय की अन्वय हो जाता किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है।

कुवलयानन्दकार ने केवल इष्टाप्राप्ति का जो यह खिन्नोऽसि- "उदाहरण दिया है पण्डितराज जगन्नाथने इसका भी खण्डन किया है। उनके मतानुसार यह उदाहरण भी केवल इष्टाप्राप्ति का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि इस उदाहरण में भरभुग्नविततबाहुषु इस अंश के द्वारा बाहु की अस्थि-संधियों के भङ्ग रूप अनिष्ट की प्राप्ति साक्षात् अभिहित है और सब अङ्गों के चूर्ण होने तथा गोपों के गर्व के उपहार रूप अनिष्ट प्राप्ति की भी स्पष्ट प्रतीति हो रही है अत: इस उदाहरण

को केवल इष्टाप्राप्ति का उदाहरण कहना अनुचित है। यहाँ पर शैल पतन रूप अनिष्ट की प्राप्ति भले ही भगवत्करकमल-स्पर्श-महिमा से न हुआ हो परन्तु इस शैल पतन रूप अनिष्ट के अतिरिक्त अन्य अनिष्टों की प्राप्ति तो हुयी है। अतः यहाँ अनिष्ट प्राप्ति भी है इस उदाहरण को केवल इष्टा प्राप्ति का उदाहरण कहना अनुचित है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने जो अप्पय दीक्षित के उपर्युक्त मत का खण्डन किया है वह युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि अलङ्कार-विवेचन के प्रसङ्ग में व्याकरण की दृष्टि से केवल एक प्रत्यय को लेकर या थोड़ी सी बात को लेकर पूरे के पूरे एक भेद के लक्षण और उसके उदाहरणों का खण्डन करना बहुत तथ्यपूर्ण नहीं लगता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुओं का अननुरूप संसर्ग ही विषम है। विषम अलङ्कार में कार्य तथा कारण की विरोधी गुण क्रिया का योग दिखाने में ही चमत्कार रहता है। कार्य और कारण में विरुद्ध गुण और क्रिया का योग ही इस अलङ्कार का सौन्दर्य और आह्लादकत्व है तथा इसी में अलङ्कार की विरोध-मूलकता है। सामान्य रूप से कार्य और कारण में समान गुण-क्रिया की ही उत्पत्ति होती है, परन्तु इस नियमभङ्ग में ही अर्थात् इस नियम के विरुद्ध कार्य और कारण में विरोधी गुण क्रिया का वर्णन जैसा विषम अलङ्कार में होता है काव्य में अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करता है। विरोध अलङ्कार में भिन्न देश में प्रसिद्ध वस्तुओं की एकत्र घटना का वर्णन होता है उसी में चमत्कार रहता है। असङ्गति अलङ्कार में कार्य और कारण की भिन्नदेशता के वर्णन में चमत्कार रहता है। इसी प्रकार विषम अलङ्कार में भी कार्य तथा कारण की विरोधी गुण क्रिया का योग दिखाया जाता है उसी में चमत्कार होता है यही कारण है कि इन अलङ्कारों को पृथक-पृथक विरोध-

सम अलङ्कार

सम अलङ्कार विषम अलङ्कार का विपरीत अलङ्कार है। विषम अलङ्कार में अननुरूप वस्तुओं का संसर्ग अपेक्षित होता है। इसके विपरीत सम अलङ्कार में अनुरूप वस्तुओं का संसर्ग वर्णन अपेक्षित माना गया है। सम अलङ्कार को एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में मान्यता सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने प्रदान की मम्मट के मतानुसार सम अलङ्कार का लक्षण है-

समं योग्यतया योगो यदि सम्भावित: क्वचित्।।

यदि कहीं (दो विशेष वस्तुओं का) योग्यरूप से सम्बन्ध वर्णित हो तो सम (नामक अलङ्कार) होता है।

मम्मट ने सम अलङ्कार के दो भेद किये हैं- 1. उत्तम (वस्तुओं के) योग में और (2) असद् वस्तुओं के योग में। उदाहरणार्थ-

धातु: शिल्पातिशयनिकसस्थानमेष मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्र: स्मरस्य।
जातं दैवात्सदृशमनयो: सङ्गतं यद् तदेतद्
श्रृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम्।।

यह मृगाक्षी (नायिका) ब्रह्मा के रचना कौशल की परीक्षा की कसौटी है और कामदेव का भी (साम्मुख्य के लिए) आह्वान करने वाला यह राजा भी रूप में अनुपम है। भाग्य से इन दोनों का जो यह मेल हो गया है इससे अब श्रृङ्गार का एकच्छत्र राज्य आ गया है।

उपर्युक्त उदाहरण सद्योग में समअलङ्कार का उदाहरण है।

चित्र चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः।।

देखो, देखो आश्चर्य, महान् आश्चर्य की विचित्र बात है कि भाग्य से विधाता उचित सृष्टि रचना का करने वाला हो गया। क्योंकि (उसने) नीम की पकी हुई निबौलियों के अपूर्व रस (स्फीति) को पान करने योग्य बनाया है और उसके खाने की कला में निपुण काक समुदाय को बनाया है।

इस उदाहरण में काक और निबौली के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है और काक और निबौली ये दोनों ही हीन श्रेणी के असत् पदार्थ हैं। अतः असत् पदार्थों का योग होने के कारण यह असद्योग में "सम" अलङ्कार का उदाहरण है।

रूय्यक ने भी विषम के विपर्यय को समअलङ्कार का लक्षण माना है-

तद्विपर्ययः समम्।।
सम इससे (विषम से) उल्टा होता है।

रूय्यक ने यद्यपि विषम अलङ्कार के तीन भेद किये है। उनके मतानुसार यहाँ "तत्" पद से अन्तिम भेद ही समझा जाता है क्योंकि प्रथम दो भेदों का विपर्यय अलङ्कार नहीं हो सकता है। किन्तु अन्तिम भेद का विपर्यय, विच्छित्ति होने के नाते सम नामक अलङ्कार है। उन्होंने विषम अलङ्कार के अभिरूप तथा अनभिरूप

दो भेद किये है।

उदाहरणार्थ-

त्वमेवसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः

कलानां सीमान्तं परमिह युवामेव भजथः।

अयि द्वन्द्वं दिष्टया तदिह सुभगे संवदिति वा-

मतः शेष यत्स्याज्जितीमह तदानीं गुणितया।।

तुम इतनी सुन्दर हो, वह भी सुन्दरता को पहिचानता है। कला की परम चरम सीमा आप दोनों में ही है। इस {संसार} में अयि सुन्दरि ! आप दोनों का यह जोड़ा सौभाग्य से आपस में मिलता है। अब जो शेष बचा है {विवाह} वह भी हो जाए तो इस संसार में सहृदयता की जीत हो जाएगी।

उपर्युक्त उदाहरण में नायक-नायिका की जोड़ी जो है अभिरूप है। यहाँ अभिरूप नायक-नायिका की जोड़ी के उचित संघटन की प्रशंसा की गयी है अतः यह अभिरूप विषयक सम का उदाहरण है।

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं

जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।

यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया

यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काक लोकः।।

ओह ! ओह ! आश्चर्य है, बहुत आश्चर्य है, यह विचित्र है कि विधाता, भाग्य से, उचित रचना का विधाता बन गया क्योंकि चखना है नीम की पकी हुई

निबौलियाँ और इसके लिए {विधाता ने} कौओं का यह संसार रच दिया जो निगलने की कला में निपुण हैं।

प्रस्तुत उदाहरण में एक दूसरे से बेमेल नीम और कोओं के समागम की प्रशंसा की गयी है अतः यह अनभिरूप-विषयक सम अलङ्कार का उदाहरण है। इस उदाहरण को मम्मट ने सम अलङ्कार के दूसरे भेद असद्योग में सम अलङ्कार के उदाहरण के रूप में रखा है।

विश्वनाथ ने योग्य वस्तुओं की अनुरूपता को सम अलङ्कार का लक्षण मानते हुए उसके एक ही रूप को स्वीकार किया। उनके मतानुसार विषम अलङ्कार का लक्षण यह है-

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः।।

योग्य वस्तुओं की अनुरूपता के कारण प्रशंसा को समालंकार कहते हैं। उदाहरणार्थ-

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः।।

यह चन्द्रिका मेघमुक्त {शरद्ऋतु} के चन्द्रमा को प्राप्त हो गयी। अपने अनुरूप समुद्र में यह गंगा अवतीर्णा हो गई। इस प्रकार अज और इन्दुमती के जोड़े की प्रशंसा करते हुए, समान गुणों के संयोग से प्रसन्न नगरनिवासी लोग अन्य राजाओं के कानों में खटकने वाले उक्त वाक्यों को एक स्वर से कहने लगे।

उपर्युक्त उदाहरण में दोनों योग्यों के मेल की श्लाघा है। अत: यह सम अलङ्कार का उदाहरण है।

कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित ने अनुरूप पदार्थों का एक साथ वर्णन सम अलङ्कार का लक्षण मानते हुए इसके तीन भेद स्वीकार किये। उनके मतानुसार सम अलङ्कार का लक्षण है-

समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयो:।
स्वानुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम्।।

जहाँ दो अनुरूप पदार्थों का वर्णन एक साथ किया जाय, वहाँ सम अलङ्कार होता है। जैसे, हार ने इस नायिका के कुचमण्डल को अपने योग्य निवास स्थान बना लिया है।

यहाँ दो अनुरूप पदार्थों का वर्णन होने से यह सम अलङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण है सम अलङ्कार का यह भेद विसम अलङ्कार का प्रतिद्वंदी है।

सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदु:।
नीचप्रवणता लक्ष्मि ! जलजायास्तवोचिता।।

जहाँ कारण तथा कार्य में अनुरूपता हो, वह सम अलङ्कार का दूसरा भेद है, जैसे, हे लक्ष्मि, जल से उत्पन्न होने वाली (मूर्ख से उत्पन्न होने वाली) तेरे लिए नीच के प्रति आसक्त होना ठीक नहीं है।

उपर्युक्त उदाहरण में कारण के स्वभाव के अनुरूप कार्य का निबंधन होने से अर्थात् कारण तथा कार्य में अनुरूपता होने से यह सम अलङ्कार के दूसरे भेद का

विनाऽनिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थ कर्तुमुद्यत:।
युक्तो वारणलाभोऽयं स्यान्न ते वारणार्थिन:।।

जहाँ किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए कार्य को करने के लिए उद्यत व्यक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति बिना किसी अनिष्ट के हो जाय, वहाँ भी सम अलङ्कार होता है। जैसे कोई व्यक्ति राजद्वार पर फटकार खाए हुए व्यक्ति से मजाक में कह रहा है:- ठीक है, वारण (हाथी) की इच्छा वाले तुम्हें यह वारण लाभ ठीक ही तो है न ।

यहाँ हाथी को प्राप्त करने की इच्छा से राजा के पास जाते हुए व्यक्ति को राजद्वार पर द्वारपालों के द्वारा रोका गया है तथा राजद्वार पर द्वारपालों द्वारा रोके गये व्यक्ति के प्रति किसी अन्य व्यक्ति का नर्मवचन (परिहासोक्ति) है।

प्रस्तुत उदाहरण में एक शंका यह होती है कि सम अलङ्कार के इस भेद में किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए कार्य को करने के लिए उद्यत व्यक्ति को उस वस्तु की प्राप्ति बिना अनिष्ट के हो जाती है यह बात जो कही गयी है इस उदाहरण में यह कैसे संगत हो सकती है। यहाँ इस उदाहरण में द्वारापालों द्वारा रोका जाना अनिष्ट है, अत: यह उदाहरण सम अलङ्कार के इस भेद का उदाहरण नहीं हो सकता लेकिन ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। राजद्वार पर क्षणभर निवारण की संभावना करके ही वह व्यक्ति उस कार्य में प्रवृत्त हुआ था, अत: राजद्वार पर हुआ जो निवारण है वह अनिष्ट की आपत्ति नहीं है। इस प्रकार यह उदाहरण सम अलङ्कार के तीसरे भेद का उदाहरण है।

अथवा जैसे-

उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव

त्वामाश्रयन्निह चिराद्युषितोऽस्मि राजन्

उच्चाटनं त्वमपि लम्भयसे तदेव

मामद्य नैव विफला महतां हि सेवा

हे राजन्, मैं तुम्हारे नगर में बड़े दिनों से तुम्हारे आश्रय में इसलिए पड़ा हूँ कि मैं उन्नत हाथियों पर बैठ कर घूमना चाहता हूँ। तुम भी अपने द्वारा प्रार्थित उच्चाटन विकाल (ऊपर घूमना, देश निकाला) को मुझे दे रहे हो। सच है, बड़े लोगों की सेवा व्यर्थ नहीं जाती।

यहाँ इस उदाहरण में अप्पय दीक्षित ने विषम अलङ्कार भी माना है। उनके मतानुसार "यहाँ यद्यपि व्याजस्तुति में स्तुति के द्वारा निंदा की व्यंजना विवक्षित होने पर विषम अलङ्कार पाया जाता है, तथापि सर्वप्रथम वाच्यार्थ के रूप में स्तुति की ही विवक्षा पायी जाती है और उसमें समालंकार का निवारण नहीं किया जा सकता।"[1]

1- अत्र यद्यपि व्याजस्तुतौ स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिविवक्षायां विषमालंकारस्तथापि प्राथमिकस्तुतिरूपवाच्यविवक्षायां समालंकारो न निवार्यते। एवं यत्रेष्टार्थावाप्ति-सत्त्वेऽपि श्लेषवशादसतोऽनिष्टार्थस्य प्रतीतिस्तत्रापि समालङ्कारस्य न क्षतिः।

कुवलयानन्द पृ0 163

कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ यद्यपि आपाततः प्रतीत होने वाली जो स्तुति है उससे निन्दा की अभिव्यक्ति होती है अतः व्याजस्तुति है तथा उस निन्दात्मक अर्थ में अर्थात् इष्ट के लिए किये गये प्रयत्न से इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति हो रही है इस कारण विषम अलङ्कार भी है। तथापि वाच्यार्थ के द्वारा प्रतीत होने वाली स्तुति में जो इष्टवस्तु के लिए प्रयत्न से इष्ट वस्तु की प्राप्ति का बोध होता है सम अलङ्कार भी है।[1]

पण्डित राज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के उपर्युक्त उदाहरण का खण्डन किया है। उनके मतानुसार उनके इन उदाहरण के "मामुच्चाटनं लम्भयसे" इस अंश में ण्यन्तलभ्धातु द्विकर्मक {दो कर्मों एक उच्चाटनम् और दूसरे माम्‌वाता} कैसे हुआ। व्याकरण के अनुसार गतिबुद्धि-"सूत्र गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक सूत्रोक्त धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्ताओं को ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा का विधान करेगा, अन्य धातुओं के अण्यन्त कर्ता से ण्यन्तावस्था में कर्तृसंज्ञा प्रयुक्त तृतीया होगी, फलतः लभ् धातु के अण्यन्तकर्ता को ण्यन्तावस्था में इस मत के अनुसार कर्मसंज्ञा प्राप्त ही नहीं होती, अतः "उच्चाटनं मया लम्भयसे" ऐसा ही वाक्य होना चाहिए" "माम्" यह सर्वथा अशुद्ध ही है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने उक्त उदाहरण को दोषयुक्त तो बताया ही, साथ ही उन्होंनें अप्पय दीक्षित ने जो इस अलङ्कार में विषम अलङ्कार भी माना है इनका भी खण्डन किया है। उनके मतानुसार उच्चगजों के द्वारा अटन की जगह उच्चाटन {निष्कासन} रूप वैषम्य निन्दा रूप बन कर व्याजस्तुति का अङ्ग बन जाता है अतः वैसी स्थिति में अपवाद होने के कारण व्याजस्तुति के द्वारा विषम का बाध होना उचित ही है। सामान्य नियम का अपवाद स्वरूप जब कोई विशेष नियम होता है तो वह सामान्य नियम को बाधित कर देता है। इस प्रकार यह

उदाहरण समालङ्कार का उदाहरण है इसमें जैसा कि कुवलयानन्दकार ने विषमालङ्कार को भी स्वीकृत किया वह ठीक नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अनुरूप सम्बन्ध को ही सम अलङ्कार मानते हुए उसके लक्षण का विवेचन इस प्रकार किया है--

अनुरूपसंसर्गः समम् ।

इस प्रकार के सम्बन्ध को समालङ्कार कहते हैं जो लोकदृष्टि से अनुरूप-योग्य (उचित) हो।

अनुरूप और संसर्ग पदों की व्याख्या विषम अलङ्कार के विवेचन में की जा चुकी है। "अनुरूप" पद का अर्थ योग्यताहोता है। जहाँ योग्यता हो वहाँ अनुरूपता होती है और उस अनुरूपता का योग्यता से जो विशिष्ट सम्बन्ध है वह सम्बन्ध ही सम अलङ्कार का विषय है।

संसर्ग विषम अलङ्कार के समान दो प्रकार का होता है-- उत्पत्तिरूप संसर्ग और संयोगादि रूप संसर्ग। उनमें से जो उत्पत्तिरूप संसर्ग की योग्यता अर्थात् अनुरूपता है वह तीन तरह से होती है-- (1) कारण से अपने समान गुणवाले कार्य की उत्पत्ति द्वारा (2) जैसे गुण वाली वस्तु से संसर्ग हो वैसे गुणों की उत्पत्ति द्वारा और (3) जिस किसी इष्ट की प्राप्ति के लिए कारण का प्रयोग किया गया हो उससे उस इष्ट की प्राप्ति द्वारा ।

संयोगादिरूप संसर्ग की भी अनुरूपता दो सम्बन्धियों में से एक के गुण तथा स्वरूप द्वारा दूसरे के गुण तथा स्वरूप के अनुगृहीत होने पर होती है। इस तरह सम

इस तरह सम अलङ्कार का अनुरूप संसर्गता रूप जो सामान्य लक्षण है उससे सम अलङ्कार के जितने भी प्रभेद हैं सभी का ग्रहण हो जाता है।

उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के प्रथम भेद का उदाहरण--

कुवलयलक्ष्मीं हरते तव कीर्तिस्तत्र किं चित्रम् ।
यस्मान्निदानमस्यालोकनमस्याङ्घ्रिमङ्कजस्तु भगवान् ।।

आप की कीर्ति कुवलय [रात्रि विकासीकमल, भूमण्डल] की शोभा का हरण करती है इसमें क्या आश्चर्य, क्योंकि इसके उत्पादक वे आप हैं जिनके चरण-कमल लोकों से चमस्करणीय हैं।

अर्थात् कीर्ति के कारण आप में जब लोकजयित्व तथा कमलजयित्व गुण है तब आप से उत्पन्न हुयी कीर्ति में भी इन गुणों का होना उचित ही है। यहाँ इस उदाहरण में कारण राजा है तथा राजा में लोकजयित्व तथा कमलजयित्व गुण है तथा राजा से उत्पन्न हुयी जो कीर्ति है उसमें भी इन्हीं गुणों के होने का वर्णन है।

अत: इस उदाहरण में कारण से अपने समान गुण वाले कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होने से उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के प्रथम भेद का उदाहरण है।

अथवा जैसे-

मन्त्रार्पितहविर्दीप्तहुताशनतनूभुव: ।
शिखास्पर्शेन पांचाल्या: स्थाने दग्ध: सुयोधन: ।।

मन्त्र पढ़कर प्रदत्त हवि से प्रज्वलित अग्नि के शरीर से उत्पन्न होने वाली द्रौपदी की शिखा (चोटी) के स्पर्श से दुर्योधन उचित ही दग्ध हुआ।

अर्थात् अग्नि की शिखा (ज्वाला) के स्पर्श से जब दाह होता है तब अग्नि से उत्पन्न द्रौपदी की शिखा (चोटी) के स्पर्श से भी दाह का होना समुचित ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब अग्नि की शिखा के स्पर्श से दाह होता है तब अग्नि से उत्पन्न होने वाली द्रौपदी की शिखा के स्पर्श से दाह के होने का जो वर्णन किया गया है ठीक ही है, क्योंकि, कारण का गुण कार्य में भी होना ही चाहिए। अतः यह भेद भी उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के प्रथम भेद का ही उदाहरण है।

उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के जो दोनों उदाहरण हैं पूर्वोक्त दोनों उदाहरण एक प्रभेद के हैं और इन दोनों उदाहरणों के परस्पर अन्तर को बताते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्टरूप से यह बात कही है--

"कुवलयलक्ष्मीम्-" इस उदाहरण में कारण तथा कार्य के धर्मों (गुणों) का ऐक्यसम्पादन श्लेष द्वारा हुआ है, तात्पर्य यह है कि समालङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण होने के लिए कारण और कार्य के गुणों का एक होना अपेक्षित है, जो उक्त उदाहरण में यद्यपि स्वतः नहीं है, क्योंकि कारण राजा का धर्म है लोकनमस्यता-लोकजयित्व और कार्य-कीर्ति का धर्म है कुवलय (कमल) जयित्व, तथापि "कुवलय" में जो श्लेष (कु=पृथ्वी का वलय) है उससे कार्य का भी धर्म लोकजयित्व हो जाता है।

इसी प्रकार मन्त्रार्पित-- "इस द्वितीय उदाहरण में तो कारण और कार्य के धर्मों का अर्थात् मरण और दाह का ऐक्यसंपादन अभेदाध्यवसानरूप अतिशय द्वारा हुआ है। अभिप्राय यह कि यहाँ भी कारण-अग्नि का धर्म है, दाह और कार्य

द्रौपदी का धर्म है मरण अत: एक नहीं है। और यहाँ उन दोनों को एक करने वाला श्लेष भी नहीं है, पर सादृश्यमूलक अभेदारोप करके उन दोनों को (मरण और दाह को) एक मान लिया गया है। इस प्रकार दोनों उदाहरणों में श्लेष तथा अभेदाध्यवसान रूप अतिशय का अन्तर है।[1] उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के द्वितीय भेद का उदाहरण-

> वडवानल कालकूट लक्ष्मी-मकर-व्यालगणै: सहैधित: ।
> रजनीरमणो भवेन्नृणां न कथं प्राणवियोगकारणम् ।।

वडवाग्नि, विष, लक्ष्मी, मगर और सर्प के समूह के साथ बढ़ा हुआ चन्द्रमा (इन सबों के समुद्रवासी होने के कारण ऐसा कहा गया है। मनुष्यों के प्राणवियोग (मरण) का कारण क्यों न हो? जन्म से मारकों के साथ बढ़ने वाले को मारक होना ही चाहिए।

उपर्युक्त उदाहरण में वडवानल आदि वस्तुएँ मारकरूप अर्थात् मारकत्व गुण से युक्त हैं। उनके संसर्गी चन्द्रमा में भी उन्हीं गुणों की उत्पत्ति वर्णित है। अत: मारकत्व गुण वाले वडवाग्नि के संसर्गी चन्द्रमा से मरण रूप गुण की उत्पत्ति का वर्णन होने के कारण यह उदाहरण उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के द्वितीय भेद का उदाहरण है। इस उदाहरण में लक्ष्मी का भी कथन मारक रूप में ही कवि को अभीष्ट है।

उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के तृतीय भेद का उदाहरण--

> नितरां धनमाप्तुमर्थिभि: क्षितिप त्वां समुपास्य यत्नत: ।
> निधनं समलम्भि तावकी खलु सेवा जनवांछितप्रदा ।।

1- रसगङ्गाधर- पृ0 495

हे राजन् । अत्यधिक धन प्राप्त करने के लिए याचकों ने यत्नपूर्वक आप की सेवा करके "निधन" ॥नितरांधन॥ मरण को प्राप्त किया, आप की सेवा निश्चित रूप से मनुष्यों की अभिलषित वस्तु को देने वाली है।

इस उदाहरण में धन प्राप्ति की इच्छा से धनार्थियों द्वारा प्रयत्न किया गया और निधन ॥नितरां धन॥ भी प्राप्त कर लिया गया। यहाँ निधन पद गत श्लेष के द्वारा मरण और बहुत धन का ऐक्य हो जाने से "बहुधन रूप इष्ट" के रूप में अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में सम अलङ्कार काचमत्कार है। यहाँ व्याज स्तुति अलङ्कार भी है लेकिन व्याजस्तुति अलङ्कार में प्रारम्भ में स्तुति और पर्यवसान में निन्दा की प्रतीति होती है परन्तु यहाँ इस उदाहरण के प्रारम्भ भाग में जब तक केवल धन प्राप्ति रूप स्तुति की प्रतीति होती रहेगी तब उपर्युक्त कथनानुसार सम अलङ्कार होगा किन्तु जब निन्दात्मक मरण की प्राप्ति हो जाती है तब सम अलङ्कार का विषय नहीं रहता क्योंकि इस अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर इष्ट-प्राप्ति अब नहीं रहती। यहाँ इष्ट के लिए प्रयुक्त कारण से अनिष्ट की प्राप्ति होने से विषम अलङ्कार की प्राप्ति होती है लेकिन व्याजस्तुति से विषम बाधित हो जाता है। अत: यह उदाहरण उत्पत्तिरूप संसर्ग की अनुरूपता के तृतीय भेद का उदाहरण है।

संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता भी दो प्रकार की होती है-- एक स्तुति में पर्यवसित होने वाली और दूसरी निन्दा में पर्यवसित होने वाली ।

संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता के प्रथम भेद का उदाहरण

अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदाम्
पतन्विश्वोद्धर्त्रीं गदविदलितः सिद्धभिषजम् ।
तृषार्तः पीयूषप्रकरनिधिमत्यन्तशिशुकः
सवित्रीं प्राप्तस्त्वामहमिह विदध्याः समुचितम् ।।

हे गङ्गे! अत्यन्त छोटा बालक मैं आप माता की शरण में आया हूँ और आप स्नेहार्द्र है, मै गतिहीन हूँ और आप पवित्र गति देने वाली है, मेरा पतन हो रहा है और आप संसार का उद्धार करने वाली है। मै रोग से ग्रस्त हूँ और आप सिद्ध औषधि है, मैं तृष्णार्त हूँ और आप अमृतसमूह का खजाना है। अब आप जो उचित समझे करें।

उपर्युक्त उदाहरण में स्नेहार्द्रता आदि गुणों से युक्त गङ्गा के साथ अनाथता आदि धर्मों से युक्त व्यक्तिविशेष का जो संयोगरूप संसर्ग वर्णित है उसकी अनुरूपता गङ्गा की स्तुति में पर्यवसित होने वाली है। अतः यह उदाहरण संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता के प्रथम भेद का उदाहरण है।

संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता के द्वितीय भेद का उदाहरण--

युक्तं सभायां खलु मर्कटानां शाखास्तरूणां मृदुलासनानि ।
सुभाषितं चीत्कृतिरातिथेयी दन्तैर्नखाग्रैश्च विपाटितानि ।।

बन्दरों की सभा में वृक्षों की शाखाएँ कोमल आसन हों, चीत्कार शब्द सुभाषित हो और दाँतों तथा नखाग्रों से फाड़ना अतिथि सत्कार हो यह सर्वथा उचित है।

प्रस्तुत उदाहरण में वानरों तथा वृक्षशाखादिकों का संयोग वर्णित हुआ है जो अनुरूप अर्थात् उचित ही है। अतः यहाँ समालङ्कार है, साथ ही संयोग की जो अनुरूपता है अप्रस्तुत वानरों से आक्षिप्त कलङ्कारी दुर्जन सभासदों की निन्दा में पर्यवसित होती है। अतः यह उदाहरण संयोगादिरूप संसर्ग की अनुरूपता के द्वितीय भेद का उदाहरण है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने सम अलङ्कार के तीन भेद स्वीकार किये हैं। रूय्यक ने विषम अलङ्कार का एक ही भेद स्वीकार किया है। रूय्यक के मतानुसार अनुरूपों का संयोग ही सम अलङ्कार है, विषम अलङ्कार के समान इस (सम) के तीन भेद नहीं हो सकते । पण्डितराज जगन्नाथ ने रूय्यक के इस मत का खण्डन किया है।

अलङ्कारसर्वस्वकार रूय्यक की स्पष्ट मान्यता है कि विरूप कार्य की उत्पत्ति, अनर्थ की उत्पत्ति तथा विरूपों का संयोग विषम है और "तद्विपर्ययः समम् अर्थात् इसका विपर्यय सम कहलाता है। "तद्विपर्ययः समम्" यह सम अलङ्कार का लक्षण मानते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि तत् अर्थात् इसका विपर्यय सम कहलाता है। "तत्" पद से विषमालङ्कार लक्षणगत संघटना रूप अन्तिम भेद को ही ग्रहण किया जाता है क्योंकि केवल उसके वैपरीत्य में ही चारुता तथा सुन्दरता रहती है अतः केवल उसका विपरीत रूप है । चमत्कारी होता है प्रथम दोनों भेदों अर्थात् विरूपकार्योत्पत्ति और अनर्थोत्पत्ति का विपर्यय चमत्कारी नहीं होता। विषम दोनों भेदों का क्रमशः विपर्यय है--

कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति और कारण से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति । यह दोनों भेद स्वभावत: सिद्ध ही है कविप्रतिभा प्रसूत नहीं है। अत: उनमें चारुता का अभाव होने के कारण चमत्कार नहीं होता। अतएव समअलङ्कार विषम अलङ्कार की भाँति तीन प्रकार का नहीं होता वह केवल अनुरूप संघटना रूप ही होता है।[1]

विमर्शिनीकार जयरथ ने भी रुय्यक के इसी मत का समर्थन करते हुए कहा कि "कारण से उसके अनुरूप कार्य की उत्पत्ति लोकसिद्ध वस्तु है अत: उसका वर्णन चमत्कार जनक नहीं होता।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने उपर्युक्त रुय्यक और जयरथ दोनों के कथन को असङ्गत बतलाया है, क्योंकि स्वभावत: अनुरूपकार्य के वर्णन में तथा स्वभावत: इष्ट-प्राप्त्यर्थ प्रयुक्त कारण द्वारा इष्ट प्राप्ति का वर्णन चमत्कारी नहीं हो सकता यह बात ठीक है, फिर भी जो कार्य कारण वस्तुत: अनुरूप नहीं है उनकी अनुरूपता का वर्णन जब श्लेष आदि के द्वारा एकधर्मता का संपादन करके अर्थात् उनके धर्मों को

---

1. "विषमवैधर्म्यादिह प्रस्ताव: । यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं, तथापि तच्छब्देन सम्भावनत्यो भेद: परामृश्यते । पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलङ्कारत्वात्। अन्त्यभेदे विपर्ययस्तु चारुत्वात्समाख्योऽलङ्कार: ।"

अलङ्कार सर्वस्व पृ0 245

एक सिद्ध करके किया जाता है तो चमत्कार होता है। इसी प्रकार वस्तुत: अनिष्ट अर्थ का भी श्लेष आदि के द्वारा ही इष्ट के साथ एकता सिद्ध करके जब इष्टप्राप्ति का वर्णन किया जाता है तब उसमें चारुता होती है अर्थात् तब वह चमत्कारी होता है। अत: सम अलङ्कार भी तीन प्रकार का होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सम अलङ्कार के जो तीन भेद किये हैं। सम अलङ्कार के प्रथम दो भेदों में विरोधमूलकता भासित नहीं होती, परन्तु तृतीय भेद इष्ट कारण से इष्ट कार्य की प्राप्ति के उदाहरण में विरोध का आभास होता है जैसे "नितरां0" इस उदाहरण में "नितरां और "धन" शब्दों का पृथक् प्रयोग कर यह बताया गया कि राजा से याचकों ने अत्यधिक धन पाना चाहा, परन्तु उन्हें पर्याप्त धन प्राप्त हो गया यह भाव व्यक्त करने के लिए कवि ने समस्त पद का प्रयोग किया जो कि मरण के अर्थ में प्रसिद्ध है और यही यहाँ विरोध का कारण है। बाद में निधन" का नितरां धनं" यह प्रसिद्ध अर्थ करके ही यहाँ विरोध का बीज नष्ट हो जाता है। अत: यहाँ सम अलङ्कार की अलङ्कारता एवं विरोधमूलकता दोनों एक साथ उपन्यस्त होती है। "निधन" शब्द के श्लेष में ही यहाँ अलङ्कार का चमत्कार है।

यद्यपि सम अलङ्कार मे कारण के अनुरूप कार्य की उत्पत्ति होती है अत: इसमें कोई विरोध दिखाई नहीं पड़ता परन्तु श्लेष विषयक सम उदाहरण में श्लेष अलङ्कार के कारण विरोध का आभास होता है और उसका निवारण भी हो जाता है। अत: यहाँ कारण कार्य में कोई अननुरूपता न होने पर भी विरोधधर्मिता है, यही इस अलङ्कार का विचित्र प्रयोग अर्थात् वैचित्र्य है और इसी में अलङ्कारता है।

षष्ठ अध्याय

अलङ्कार-विवेचन

विचित्र

अधिक

अन्योन्य

विचित्र अलङ्कार

जब कोई व्यक्ति अपने अभीष्ट कार्य को सम्पन्न करने की इच्छा से उसके (अभीष्ट कार्य के) विपरीत कोई प्रयत्न करे तो वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है। विपरीत कहने का अभिप्राय यहाँ प्रतिकूल से है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रयत्न के द्वारा अपना इष्ट प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् अपना अभीष्ट सिद्ध होता है, यदि उसी के विपरीत प्रयत्न किया जाय तो विचित्र अलङ्कार होता है। मम्मट के समय तक विचित्र अलङ्कार को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में मान्यता नहीं मिली थी। विचित्र अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना कर उसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में मान्यता प्रदान करने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य रूय्यक को है। उनके मतानुसार विषम अलङ्कार का लक्षण है-

स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्।।

अपने (हेतु से) विपरीत फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न "विचित्र" है।।
उदाहरणार्थ-

उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया।
प्राणान्प्रीणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद्विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक्सेवकः।।

तृष्णा से अन्धा सेवक उन्नति के लिए स्वामी के सामने झुकता है, स्वामी के घर की देख-भाल के लिए बाहर खड़ा रहता है। जड़बुद्धि (सेवक) भविष्य में धन

पाने की आशा से अपना धन खर्च कर देता है। प्राणों के लिए ही रण में प्राण गवाँ देता है, लिप्सा से ही कष्ट सहन करता है। इस प्रकार सब कुछ विपरीत ही करता रहता है।

उपर्युक्त उदाहरण में नमन क्रिया आदि उन्नति के विपरीत हैं अतः यहाँ विचित्र अलङ्कार है। सामान्य सांसारिक व्यवहार में उन्नति के लिए व्यक्ति को ऊपर उठने की आवश्यकता होती है, परन्तु यहाँ सेवक उन्नयन कार्य का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए नमन क्रिया कर रहा है, जो आपाततः विरोध का बीज है और इसी में चमत्कार है। अन्ततः तो उन्नति के लिए अहङ्कार छोड़ना एवं विनम्र होना उचित ही प्रतीत होता है। यद्यपि यहाँ कर्ता वस्तुतः अपने अभीष्ट सिद्धि या अभीष्ट फल को प्राप्त करने के लिए ही प्रयत्न करता है परन्तु उसके द्वारा किया गया जो प्रयत्न है ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्रयत्न उसके उद्दिष्ट फल के विपरीत है। कर्ता अपने अभीष्ट फल के विपरीत कार्य का आरम्भ करके अभीष्ट फल की ही प्राप्त करना चाहता है, लेकिन उसके द्वारा जो फल के विपरीत प्रयत्न वहाँ वह उसकी अभीष्ट सिद्धि में सहायक ही है। अतः उसके द्वारा किये गये प्रयत्न में जिस विरोध की प्रतीति होती है वह विरोध तात्विक न होकर अतात्विक ही होता है।

रूय्यक के उत्तरवर्ती जितने भी आचार्य हैं सभी ने रूय्यक के ही मत का अनुसरण करते हुए इष्ट फल के विरुद्ध कार्य करना ही विचित्र अलङ्कार का लक्षण माना है। इष्ट-सिद्धि के लिए इष्ट-विपरीत अर्थात् प्रतिकूल आचरण को विचित्र अलङ्कार का लक्षण मानते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी स्पष्ट रूप से कहा है-

इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैजिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम्।।

इष्ट-सिद्धि के लिए इष्टाभिलाषी के द्वारा किया जाने वाला इष्ट-प्रतिकूल आचरण विचित्र कहलाता है।

उदाहरणार्थ-

> बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान्कुर्वते कर्मपाशा
>
> नन्तः शान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्तां वहन्ति।
>
> तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः
>
> सर्वं प्रामादिकमिह भवभ्रान्तिभाजां नराणाम्।।

संसार-भ्रम युक्त मनुष्यों के सभी कार्य प्रामादिक [गलत] होते हैं, क्योंकि ये लोग बन्धन से छूटने के लिए यज्ञादिक कर्मपाशों की रचना करते हैं। अन्तःकरण की शान्ति के लिए सैकड़ों मुनियों के मतों की [शास्त्रों की] अत्यधिक चिन्ता करते हैं और अशुभ समुद्र को पार जाने की इच्छा से तीर्थ में डुबकी लगाते हैं।

प्रस्तुत उदाहरण में प्रथम चरण में रूपकानुप्राणित विचित्र है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान जो कि बन्धनमुक्ति के लिए होता है उसे तब तक विपरीत नहीं कहा जा सकता जब तक यज्ञादि को पाश न मान लिया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञादि को पाश मान लेने पर अर्थात् यज्ञादि में पाश का आरोप करने पर ही यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान बन्धनमुक्ति के लिए विपरीत हो सकता है। इस उदाहरण के द्वितीय चरण में शान्ति और चिन्ता के स्वभावतः विपरीत होने के कारण शुद्ध विचित्र है। इसी प्रकार तृतीय चरणगत "विचित्र" अर्थात् अशुभ समुद्र के पार जाने की इच्छा से तीर्थ में डुबकी लगाना यह भी रूपक से अनुप्राणित है, क्योंकि अशुभ को समुद्ररूप माने बिना "तीर्थ में डुबकी लगाना अर्थात् जब तक कि अशुभ को समुद्ररूप नहीं माना जाता तीर्थ में डुबकी लगाना भी विपरीत नहीं होता।

इष्ट की अभिलाषा करने वाले की भ्रान्तता की जो अभिव्यक्ति है वही विचित्रालङ्कार का मूल तत्त्व है। आचार्य जगन्नाथ ने विचित्र अलङ्कार के निरूपण में एक बात और स्पष्ट की है कि यदि किसी व्यक्ति को भ्रान्त व्यक्ति सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का वर्णन किया जाय जिसमें वह व्यक्ति अपना इष्ट प्राप्त करना चाहता है अर्थात् अपनी अभीष्ट-सिद्धि चाहता हो और अपने इष्ट को प्राप्त करने के लिए वह इस प्रकार का आचरण कर रहा हो जो कि उसके प्रतिकूल हो, परन्तु उसका यह आचरण भ्रमवशात् हो। कहने का भाव यह है कि वह अनुकूल आचरण के भ्रम से कोई प्रतिकूल आचरण कर रहा हो तो उसके उस आचरण को भी विपरीत आचरण होने के कारण, विचित्र अलङ्कार का ही विषय मानना चाहिए और इसके लक्षण में "विपरीत" पद के स्थान पर "अननुकूल" पद रख दिया जाय तो निम्नलिखित उदाहरण भी विचित्र अलङ्कार का उदाहरण हो सकता है-

विष्वद्रीचा भुवनमखिलं भासते यस्य धाम्ना
सर्वेषामप्यहमयमिति प्रत्ययालम्बनं यः।
तं पृच्छन्ति स्वहृदयगतावेदिना विष्णुमन्या-
न्न्यायोऽयं शिव शिव नृणां केन वा वर्णनीयः।।

जिनके सर्वव्यापी तेज से संपूर्ण संसार प्रकाशित हो रहा है और जो सभी की यह मैं (अहम्) इस प्रतीति का आधार है ऐसे विष्णु की, सहृदयवस्थित वस्तु को न जानने वाले मूढ जन दूसरों से पूछते फिरते हैं। शिव! शिव!! मनुष्यों के इस अन्याय का वर्णन कौन कर सकता है।

इस उदाहरण में जीवरूप के सभी लोगों के लिए प्रत्यक्षसिद्ध अतएव स्वतः सिद्ध इष्ट रूप परमेश्वर को जानने के लिए अर्थात् परमेश्वर के ज्ञान के लिए जो

दूसरों से प्रश्न किया गया प्रश्न है वह अनुकूलाभास है, अनुकूल सा प्रतीत होता है, क्योंकि इष्ट का साधन मुख्य रूप से अपना हृदय ही है, जैसा कि- "यत्साक्षादपरोक्षात्" इस श्रुति वाक्य से सिद्ध है। अर्थात् श्रुति वाक्य भी इस व्यापार की अनुकूलता में प्रमाण है।

अब हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विचित्र अलङ्कार में भी कारण के अननुरूप कार्य होता है तथा विषम अलङ्कार कामें भी "अननुरूप का सङ्घटम" अर्थात् दो वस्तुओं का ऐसा सम्बन्ध जो अनुकूल न हो इस प्रकार का वर्णन होता है तो फिर विचित्र अलङ्कार और विषम अलङ्कार में भी कोई भेद नहीं मानना चाहिए विचित्र अलङ्कार को भी विषम अलङ्कार का ही अङ्ग मान लेना चाहिए। उपर्युक्त शंका के समाधान में यह बात कही जा सकती है कि विचित्र अलङ्कार का जो सौन्दर्य है वह व्यक्ति के इष्ट-विपरीत कार्य में प्रवृत्त होने में है जबकि विषम अलङ्कार अननुरूप कार्य कारण आदि की घटना में चमत्कार रहता है। विचित्र अलङ्कार तथा विषम अलङ्कार में अन्तर स्पष्ट करते हुए यह बात स्पष्ट रूप से पं० जगन्नाथ ने कही है कि- इष्टाभिलाषी के द्वारा किया जाता हुआ इष्ट-प्रतिकूल आचरण कारण प्रतिकूल कार्यरूप ही सिद्ध होता है। अतः विचित्र अलङ्कार का समावेश विषम अलङ्कार में ही हो जाता है, इस प्रकार की आशंका करना उचित नहीं है, क्योंकि विषम अलङ्कार में जो कारण से विपरीत कार्य की उत्पत्ति होती है उसमें पुरुष के प्रयास की अपेक्षा नहीं की गयी है और विचित्र में पुरुष प्रयास सिद्ध विपरीत आचरण अपेक्षित होता है, इसी तरह विषम के भेदों का निरूपण कारण तथा कार्य के गुणों की विलक्षणता के आधार पर ही किया गया है और विचित्र के निरूपण में विशेष रूप से कार्य-कारण के गुणों की विलक्षणता के आधार पर नहीं बनाया गया है। अतः यह विचित्र अलङ्कार विषम से पृथक्

अलङ्कार है व्यक्ति के आचरण से सापेक्ष और निरपेक्ष होने के आधार पर उन्होंने विचित्र और विषम के भेद को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह बात कही जा सकती है कि यद्यपि विषमालङ्कार में भी कार्य और कारण परस्पर अननुरूप होते है, परन्तु कार्य और कारण के परस्पर अननुरूप होने पर भी दोनों में भेद है। विषम अलङ्कार में किसी कर्ता की अपेक्षा नहीं होती केवल अननुरूप वस्तुओं का सङ्घटन होता है। विषम अलङ्कार में कार्य कारण भाव किसी व्यक्ति के द्वारा किया जाना आवश्यक नहीं होता। कहने का भाव यह है कि विषम अलङ्कार में

§1§ नच कारणाननुरूपं कार्यमिति । विषमभेदोऽयं वाच्यः,

विषमे पुरुषकृतेरनपेक्षणात् । कार्यकारणगुणवैलक्षण्येनैव

तद्भेदनिरूपणाच्च।

रसगङ्गाधर, पृ0 518

कार्य-कारण-भाव प्राकृत होता है तथा विचित्र में वह कार्य-कारण-भाव कल्पित होता है। विषम अलङ्कार में कार्य-कारण के गुणों की विलक्षणता ही उसका मुख्य विषय होता है। इसके विपरीत विचित्र अलङ्कार में अपना जो अभीष्ट है उस अभीष्ट साधन के विपरीत कार्य करना ही मुख्य विषय होता है। अत: अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए इष्ट-विपरीत जो आचरण है अर्थात् जहाँ कर्ता अपने अभीष्ट फल के विपरीत फल के लिए प्रयत्न करता हो वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है। इष्ट फल के प्रतिकूल कार्य करने के वर्णन में विरोध मूलक अलङ्कार के रूप में विचित्र अलङ्कार की सत्ता स्वीकार करना उचित ही है।

अधिक अलङ्कार

अधि अलङ्कार भी विरोध मूलक अलङ्कार है। सामान्यत:, आधेय की अपेक्षा आधार अधिक विस्तृत होता है परन्तु इसके विपरीत जहाँ आधार से आधेय की दीर्घता का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, वहाँ अधिक अलङ्कार होता है। अधिक अलङ्कार में आधेय के महत्व की स्थापना के लिए आधार की भी दीर्घता का निरूपण किया जाता है। आचार्य दण्डी ने अधिक अलङ्कार की कल्पना एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में तो नहीं की फिर भी अतिशयोक्ति के एक भेद के रूप में आश्रयातिशय के स्वरूप का निरूपण किया है उसमें भी आधेय के महत्व की विवक्षा से आधार की विपुलता का वर्णन अपेक्षित माना गया है। दण्डी ने इसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया मम्मट एवं अप्पय दीक्षित ने उस उदाहरण को अधिक अलङ्कार के उदाहरण के रूप में ही उद्धृत किया है।

रूद्रट ने अधिक अलङ्कार की कल्पना एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में तो की परन्तु उन्होंने इसकी गणना अतिशयोक्ति मूलक अलङ्कारों में की। आचार्य मम्मट के मतानुसार अधिक अलङ्कार का लक्षण है-

महतोर्यन्महीयांसावश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्।।

{स्वभावत:} महान् आधेय और आधार के क्रम से आधार और आधेय छोटे होने पर भी {वर्णनीय वस्तु के उत्कर्षबोधन के लिए} महान दिखलायें जायें तो वह {दो प्रकार का} अधिक{अलङ्कार} होता है।

आश्रित अर्थात् आधेय और आश्रय अर्थात् उसका आधार । जहाँ उन दोनों के महान होने पर भी उनकी अपेक्षा छोटे भी आधार तथा आधेय [अर्थात् बड़े आधेय की अपेक्षा छोटे आधार और बड़े आधार की अपेक्षा छोटे आधेय] प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष को कहने की इच्छा से जो अधिक [बड़े] करके वर्णित किये जाते हैं। वह दो प्रकार का अधिक [अलङ्कार] होता है। उदाहरणार्थ-

अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते।।

हे राजन् ! यह तीनों लोकों का पेट बड़ा जिसमें आपका यश अपरिमेय होने पर भी समा गया है। उपर्युक्त उदाहरण में यशोराशि आधेय है, तथा "भुवनत्रितयोदर" उस आधेय का आधार है। यहाँ यशोराशि आधेय की अपेक्षा उसका आधार "भुवनत्रितयोदर" छोटा है परन्तु उस यशोराशि के महत्त्व को प्रदर्शन करने के लिए लघुतर आधार की भी विशालता का वर्णन "अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम्" यह कर किया गया है अत: यह अधिक अलङ्कार के आश्रय-लाघव रूप प्रथम भेद का उदाहरण है।

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुद:।।

प्रलयकाल में समस्त प्राणियों को अपने भीतर लयकर लेने वाले विष्णु भगवान् के जिस शरीर में सारा जगत अपने विस्तार सहित समा जाता है उस शरीर में तपोधन [नारद मुनि] के आगमन से उत्पन्न हुई प्रसन्नता न समा सकी।

प्रस्तुत उदाहरण में आधेय प्रसन्नता आधारभूत कृष्णदेह की अपेक्षा अल्प होने पर भी उसके उत्कर्ष प्रदर्शन के लिए उसके आधिक्य का वर्णन किया गया है। अत: यह उदाहरण अधिक अलङ्कार के आधेय-लाघव रूप दूसरे भेद का उदाहरण है।

रूय्यक ने भी आश्रय और आश्रयी में अनुरूपता न होने पर अधिक अलङ्कार मानते हुए उसके दो भेद स्वीकार किये हैं। उनके मतानुसार अधिक अलङ्कार का लक्षण है-

आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्।।

आश्रय और आश्रयी में अनुरूपता न होना "अधिक" है।

जिस स्थान पर दो वस्तुओं में आपस में अनुरूपता न हो वहाँ अधिक अलङ्कार होता है क्योंकि अनुरूपता का न होना अर्थात् अनानुरूप्य ही विरोध का कारण है। अनानुरूप्य के कारण ही विरोध की उत्पत्ति होती है। यह अननुरूपता दो रूपों में होती है। आश्रय के विशाल होने पर भी आश्रित के परिमित होने से अथवा आश्रित के होने पर भी आश्रय के परिमित होने से। उदाहरणार्थ-

द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता प्रविततं पातालमत्र क्वचित्
क्वाप्यत्रैव धराधराधरजलाधारावधिर्वर्तते।
स्फीतस्फीतमहो नभ: कियदिदं यस्येत्थमेवविधै-
र्दूरे पूरणमस्तु शून्यमिति यन्नामापि नास्तं गतम्।।

यहाँ किसी जगह स्वर्ग आश्रित है, यहाँ किसी जगह पाताल फैला हुआ है, यहीं कहीं पृथ्वी, पर्वत और समुद्रों का समूह है, अहा ! यह आकाश कितना फैला है पर जिसका इस प्रकार से भी पूरण तो जाने दो, शून्य नाम भी समाप्त नहीं हुआ है।

उपर्युक्त उदाहरण में आश्रयभूत आकाश के विशाल होने पर भी आश्रित स्वर्ग आदि की परिमितता चरूता उत्पन्न करती है अत: यह अधिक अलङ्कार के प्रथम भेद आश्रयाधिक्यरूप अधिक अलङ्कार का उदाहरण है।

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यन्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति।।

भुजदण्ड से चढ़ाये हुए शिव-धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न टंकार-ध्वनि आर्य (राम) के बालचरित की प्रस्तावना की डुग्गी है। तेजी से चक्कर लगाने से कपालसंपुट से संघटित होने वाला ब्रह्माण्ड-भाण्ड के मध्य में घूमने वाला पुजीभूत पराक्रम, अहो आज तक भी क्यों विश्राम नहीं लेता?

प्रस्तुत उदाहरण में आश्रितरूप टंकार-ध्वनि के महान होने पर भी ब्रह्माण्ड जो कि आश्रयरूप है उस ब्रह्माण्ड की लघुता बताई गयी है। अत: यह अधिक अलङ्कार के द्वितीय भेद आश्रिताधिक्यरूप अधिक अलङ्कार का उदाहरण है।

इस प्रकार विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि सभी आचार्यों ने अधिक अलङ्कार के सम्बन्ध में उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया है। पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार अधिक अलङ्कार का लक्षण है-

आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलक-
मितरस्यातिन्यूनत्व कल्पनमधिकम्।।

आधार और आधेय में से किसी एक को अतिविस्तृत सिद्ध करने के लिए दूसरे की अतिन्यूनता की कल्पना अधिकालङ्कार है। उदाहरणार्थ-

लोकानां विपदं धुनोसि, तनुषे संपत्तिमत्युत्कटा-
मित्यल्पेतरजल्पितैर्जडधियां भूपाल मा गा मदम्।
यत्कीर्तिस्तव वल्लभा लघुतरब्रह्माण्डसद्मोदरे
पिण्डीकृत्य महोन्नतमपि तनुं कष्टेन हावर्तते।।

हे राजन् "आप लोगों की विपत्ति को दूर करते है और अत्यन्त उत्कट संपत्ति का विस्तार करते हैं" इस तरह की मूढमतियों की बड़ी-बड़ी बातों से गर्व न करें क्योंकि आपकी वल्लभा कीर्ति इस छोटे से ब्रह्माण्डरूप गृह के मध्य में अपने अतिविशाल शरीर को सिकोड़कर बड़े कष्ट से रहती है- जो आप अपनी बल्लभा के कष्ट का भी शमन नहीं कर पाते उनके लिए आप लोगों की विपत्ति का निवारण करते है" इस तरह अज्ञजनोक्ति से गर्व करना केवल आत्म-प्रव चना ही है।

उपर्युक्त उदाहरण में ब्रह्माण्डरूप आधार की अतिलघुता की कवि द्वारा जो कल्पना की गयी है उससे कीर्तिरूप आधेय की महत्ता फलित होती है अर्थात् यहाँ ब्रह्माण्ड की अतिसूक्ष्मता की कल्पना से आधेयरूपा कीर्ति का परमहत्व सिद्ध होता है अत: यह अधिक अलङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण है।

गिरामविषयो राजन्विस्तारस्तव चेतस:।
सावकाशतया यत्र शेते विश्वाश्रयो हरि:।।

हे राजन् । जिस में जगदाधार भगवान् सावकाशता से [पूरे फैलाव के साथ] सोते हैं आपके उस चित्त का विस्तार वचनगोचर है- अवर्णनीय है।

प्रस्तुत उदाहरण में "सावकाशता से" इस कथन के द्वारा- आधेय हरि की न्यूनता कल्पित हुई है जिस से आधार राजा-चित्त की महत्ता सिद्ध होती है अत: यह उदाहरण अधिक अलङ्कार के दूसरे भेद आधाराधिक्यरूप अधिकालङ्कार का उदाहरण है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अधिक अलङ्कार के लक्षण में "कल्पना" शब्द पर विशेष बल देते हुए यह सूचित किया है कि अधिकालङ्कार में आधारादि की न्यूनता अथवा अधिकता कल्पित होनी चाहिए। इसी आधार पर उन्होंने अलङ्कारसर्वस्वकार रूय्यक द्वारा प्रस्तुत अधिक अलङ्कार के दूसरे भेद का वर्णन किया है। उनके मतानुसार रूय्यक ने आश्रिताधिक्यरूप अधिक अलङ्कार का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह भी उपर्युक्त नहीं है क्योंकि अलङ्कार सर्वस्वकार के "द्यौरत्र"- इस उदाहरण में स्वर्गादि आधेय से परब्रह्मरूप आधार की अधिकता वास्तविक होने से अलङ्कार होने की योग्यता नहीं रखती है अत: इसे अधिक अलङ्कार का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

पण्डितराज का यह कथन युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है क्योंकि वास्तविक वर्णन में कोई चमत्कार नहीं होता। कथन का चमत्कारपूर्ण ढ्ग उक्ति की विच्छित्ति- ही अलङ्कार है। अत: किसी भी उक्ति के लिए अलङ्कार होने के लिए यह आवश्यक है कि वह कवि कल्पित हो अर्थात् कवि प्रतिभा से समुद्भूत हो।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गयी कि अधिक अलङ्कार में आधार और आधेय में किसी एक को अत्यन्त विस्तृत सिद्ध करने के लिए दूसरे की न्यूनता की कल्पना की जाती है। अत: यह अलङ्कार आधाराधेय-भाव सम्बन्ध पर आधारित है। सामान्यत:, आधेय की अपेक्षा आधार अधिक विस्तृत होता है परन्तु अधिक अलङ्कार में इसके विपरीत आधेय की दीर्घता का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है

इसी में इस अलङ्कार की अलङ्कारता है तथा आश्रम और आश्रयी में अनुरूपता न होना ही अधिक अलङ्कार की विरोधमूलकता है।

अन्योन्य अलङ्कार

अन्योन्य का अर्थ है परस्पर । जिस स्थान पर परस्पर एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का भाव हो, परस्पर एक दूसरे का उपकार करने का भाव हो वहाँ "अन्योन्य अलङ्कार होता है। एक के उपकारी होने पर यह स्वाभाविक है कि दूसरा अपने आप "उपकृत" हो जायेगा और दोनों में परस्पर उपकारी-उपकृत भाव हो जायेगा। तथा इसी प्रकार दूसरा यदि पहले का उपकार करता है तो वह "उपकारी" और पहला "उपकृत" हो जायेगा अर्थात् दोनों में उपकृत-उपकारी भाव हो जायेगा। ठीक यही बात "अन्योन्य" अलङ्कार में भी होती है। रुद्रट के मतानुसार अन्योन्य अलङ्कार का लक्षण है-

> यत्र परस्परमेक: कारकभावोऽभिधेययो: क्रियया।
> संजायेत स्फारिततत्वविशेषस्तदन्योन्यम्।।

जहाँ दो पदार्थों में परस्पर क्रिया के द्वारा विशिष्टता (विशेष अर्थ) को परिपुष्ट करने वाला एक कारक भाव (कारकत्व) हो, उसे अन्योन्य कहते हैं। उदाहरणार्थ-

> रूपं यौवनलक्ष्मया यौवनमपि रूपसंपदस्तस्या:।
> अन्योन्यमलंकरणे विभाति शरदिन्दुसुन्दर्या:।।

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान उस सुन्दरी का रूप यौवन को अलंकृत कर रहा है और यौवन रूप कोउपर्युक्त उदाहरण में यौवन और रूप परस्पर एक दूसरे की

शोभा-वृद्धि कर रहे हैं। यहाँ एक क्रिया "विभाति" द्वारा उक्त दोनों पदार्थ एक दूसरे के कारकभाव को प्राप्त कर रहे हैं, अर्थात्यौवन कर्ता है तो रूप कर्म है, और रूप कर्ता है तो यौवन कर्म। अत: यह उदाहरण अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण है।

मम्मट ने भी एक क्रिया के द्वारा दो पदार्थों के परस्पर कारण या जनक होने में कही पर अन्योन्य अलङ्कार माना है उनके मतानुसार अन्योन्य अलङ्कार का लक्षण है-

क्रियया तु परस्परम्।।
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्।

क्रिया के द्वारा दो पदार्थों के एक-दूसरे के उत्पादन में ("यत् वैचित्र्यं" यह अध्याहार करके अर्थ होगा) अन्योन्य (अलङ्कार) कहलाता है।

एक क्रिया के द्वारा दो पदार्थों के परस्पर कारण होने पर अन्योन्य अलङ्कार होता है। उदाहरणार्थ-

हंसानां सरोभि: श्री: सार्यतेऽथ सरसां हंसै:।
अन्योन्यमेवैत आत्मान केवलं गुरूकुर्वन्ति।।

तालाबों के द्वारा हंसों की शोभा बढ़ती है और हंसों के द्वारा तालाबों की श्री वृद्धि होती है। ये दोनों एक दूसरे के द्वारा अपने ही गौरव को बढ़ाते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में "तालाब" तथा "हंस" दोनों एक दूसरे की श्रीवृद्धि के द्वारा दोनों एक दूसरे के कारण (जनक) है यहाँ तालाबों की श्रीवृद्धि का कारण हंस है और हंसों की श्रीवृद्धि का कारण तालाब हैं अत: दोनों के एक दूसरे के कारण (जनक)

होने के कारण यह अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण है।

रूय्यक ने भी अन्योन्य के लक्षण में एक क्रिया के द्वारा दो पदार्थों के परस्पर कारण या जनक होने की बात कही है--

परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम्

क्रियो के परस्पर निष्पादन में अन्योन्य है। उदाहरणार्थ-

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः।।

उस (पार्वती) के कण्ठ का तथा स्तनों में ऊँचे नीचे गोलाकार मुक्ताहार का एक दूसरे की शोभा पैदा करने के कारण, अलंकार्य और अलंकार का सम्बन्ध समान था। प्रस्तुत उदाहरण में शोभा क्रिया है तथा इस क्रिया के द्वारा कण्ठ तथा मुक्ताहार की अर्थात् एक दूसरे की (शोभा की) निष्पादकता है। अतः यह उदाहरण अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण है।

कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने भी दो वस्तुओं में परस्पर उपकार की भावना को अन्योन्य अलङ्कार की संज्ञा से अभिहित किया है-

"अन्योन्यम् नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया।"

जहाँ दो वर्ण्य परस्पर एक दूसरे का उपकार करें, वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता है। जैसे रात्रि चन्द्रमा के द्वारा सुशोभित होती है और चन्द्रमा रात्रि के द्वारा।

प्रस्तुत उदाहरण में चन्द्रमा रात्रि का उपकारकर रहा है, रात्रि चन्द्रमा का उपकार कर रही है, दोनों एक दूसरे का परस्पर उपकार कर रहे है अत: यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है। अथवा जैसे-

यथोर्ध्वाक्षः पिबत्यम्बु पथिको विरलाङ्गुलिः।
तथा प्रपापालिकापि धारां वितनुते तनुम्।

पथिक जैसे ही विरल अँगुलियाँ किए, ऊपर आँख उठाये, पानी पी रहा है, वैसे ही प्रपालिका भी पानी की धारा को मन्दाकर देती है। प्रस्तुत उदाहरण में पथिक ने अँगुलियों को विरल {असंलग्न} करके बड़ी देर पानी देने की {मौन} प्रार्थना के द्वारा उस प्रपालिका, का जो पानी पिलाने के बहाने अपने प्रति लोगों का बड़ी देर तक आकर्षण पसन्द करती है, बड़ी देर तक अपने मुख का अवलोकन कराना चाहती है- उपकार किया है। इसी प्रकार प्रपालिका ने पानी पीने के बहाने बड़ी देर तक अपने मुख को देखने वाले पथिक की इच्छा का- जल की धारा को मन्दा बनाकर पानी पिलाने की चेष्टा के द्वारा उपकार किया है इस प्रकार दोनों ने एक दूसरे का उपकार किया है, अत: यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है। यहाँ यद्यपि पथिक और प्रपालिका दोनों के व्यापार के द्वारा अपना अपना किया जा रहा है, तथापि के दूसरे का भी उपकार अवश्य कर रहे हैं, अत: उनके द्वारा विहित परस्परोपकार का निषेध नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त उदाहरण में यद्यपि परस्परोपकार की भावना निहित है और परस्परोपकार की भावना का समावेश होने के कारण ही इसे अन्योन्य अलङ्कार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है परन्तु पण्डित राज जगन्नाथ ने कुवलयानन्द कार के इस उदाहरण की आलोचना की है तथा इस वृत्तिभाग की पदरचना को

को ही व्युत्पत्तिशिथिल बताया है- "तावदिपंपदरचनै-वायुष्मतो ग्रन्थकर्तुर्व्युत्पत्ति-शैथिल्यमुद्भिरति।" तथा "स्वमुखावलोकनमभिलपन्त्या: अपने मुख का दर्शन चाहती हुयी इस वाक्यांश में उपान्त "स्व" शब्द से प्रपालिका का बोध उचित है न कि पथिक का ज्ञान पड़ता है, दूसरा "स्व" शब्द प्रपालिका के साथ। जबकि कवि को ऐसा कहना अभीष्ट नहीं है "स्व" शब्द यहाँ प्रपालिका के विशेषण में अन्तर्युक्त है। इसी तरह स्वमुखावलोकनमभिलषत:- अपने मुख का दर्शन चाहते हुए इस वाक्यांश में प्रयुक्त- "स्व" शब्द का अर्थ पथिक होना उचित है न कि कुवलयानन्दकार का अभिमत प्रपालिका, क्योंकि यहाँ "स्व" शब्द पथिक के विशेषणमें उपात्त हुआ है। और यदि सिद्वान्त के अनुसार उन दोनों का ही बोध होगा तब अर्थ की असंगति स्पष्ट ही है।

यदि यह कहा जाय कि सर्वनामो की शक्ति "बुद्विस्थ प्रकार से अवच्छिन्न" में होती है- अर्थात् जिस वस्तु को वक्ता बुद्विस्थ कर रखा जो वही सर्वनाम का अर्थ होता है, अत: अभीष्ट बोध सिद्व हो जायेगा क्योंकि यहाँ क्रमश: "पथिकत्व" और "प्रपालिकात्व" को ही दीक्षित जी ने बुद्विस्थ कर रखा है, तदवछिन्न पथिक तथा प्रपालिका में क्रमश: "स्व" शब्द की शक्ति होगी, परन्तु यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि "सर्वनामों की बुद्विस्थप्रकारावछिन्न में शक्ति" यह एक सामान्य नियम है और इस नियम का प्रयोग सभी जगह नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस नियम के अनुसार तत् शब्द का प्रत्यक्षवर्ती, इदम् शब्द का परोक्षवर्ती, अस्मदशब्द का वक्ता से अन्य और युष्मद् शब्द का संबोध्य से भिन्न अर्थ बुद्विस्थ मान कर कर सकते हैं, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। अत: जैसे "तत्" परोक्षवर्ती का, इदम् प्रत्यक्षवर्ती,

का, "अस्मद्" वक्ता का और "युष्मद्" संबोध्य का बोधक है" ये सब विशेष नियम मानने पड़ते है; उसी प्रकार "स्व""निज" आदि शब्द जिसके विशेषण के अन्तर्गत होकर गृहीत हो उसके अर्थात् उस विशेषण के विशेष्यभूत वस्तु के बोधक होते हैं इस विशेष व्युत्पत्ति की भी कल्पना करनी ही पड़ेगी।

अत: यहाँ "स्व" शब्द का प्रयोग ठीक उसी तरह अनुपयुक्त है जैसे- "निजतनुस्वच्छलावण्यवापीसंभूताम्भोजशोभां विदधदभिन वो दण्डपादो भवान्या:" में निज शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें "निज" पद से दण्डपाद की "तनु" प्रतीत होती है और अपेक्षित है "भवानी की "तनु" की प्रतीति।" यहाँ (यदविशेषण घटकत्वेन अर्थात्) "निज" आदि शब्द जिसके विशेषण के अन्तर्गत होकर गृहीत होते है उस विशेषण के विशेष्यभूत वस्तु के बोधक होते हैं इस व्युत्पत्ति को मानकर ही उक्त स्थल पर मम्मट ने "उनभवन्मतयोग" दोष दिखलाया है, और यदि उक्त व्युत्पत्ति न मानी जाय तो यहाँ उक्त दोष नहीं लगता।

कहने का अभिप्राय है कि यदि उक्त स्थल पर उक्त व्युत्पत्ति मानकर उसमें अवाचकत्व दोष दिखलया गया है (क्योंकि यहाँ "निज" शब्द से भवानी की "तनु" की प्रतीति अभीष्ट है परन्तु उससे "निज" शब्द से दण्डपाद की "तनु" प्रतीत होती है यहाँ भी "यथोर्ध्वाक्ष:" उदाहरण की तरह उक्त व्युत्पत्ति को मानकर इसे भी अलङ्कार माना जा सकता है इसे भी दोष का विषय नहीं मानना चाहिए और यदि "निजतनु" आदि उदाहरण में उक्त व्युत्पत्ति को मानकर दोष माना जाय तो "यथोर्ध्वाक्ष: में भी दोष का ही विषय है इसे भी अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण नहीं माना जा सकता। यहाँ पथिक ने अँगुलियाँ इसलिए असंलग्न कर रही है क्योंकि

वह स्वयं प्रपालिका को देखना चाहता है, तथा प्रपालिका ने भी जल की धारा इसलिए मन्द कर दी है क्योंकि वह स्वयं पथिक के मुख को देखना चाहती है, इस प्रकार यहाँ "स्व-स्वक्-कचिरकालदर्शन ही अभीष्ठ है और वही चमत्कारी है "परकर्तृक चिरकाल-दर्शन नहीं, अत: परस्पर उपकार ही भावना यहाँ नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रपालिका ने जो जल की धारा को पतली किया है उसमें उसका स्वार्थ ही मूल है, क्योंकि जल की धारा को मन्दी करके चिरकाल तक पथिक के मुख का दर्शन करती रहूँ। उसके स्वार्थ में ही उसके द्वारा किए गयेय जलधारातनूकरण रूप व्यापार का उपयोग चमत्कारी समझा जा सकता है न कि पथिक द्वारा चिरकाल तक नायिका मुख-दर्शन में, इसी प्रकार पथिक ने भी अपनी अँगुलियों को जो विरल {असंलग्न} रखा है वह "चिरकाल तक मैं नायिका के मुख को देखता रहूँ इस स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही उसने ऐसा किया है, अत: उसके उस अँगुलिविरकीरण रूप व्यापार का उपयोग स्वार्थ सिद्धि में ही चमत्कारी रूप में समझा जा सकता है, न कि नायिका द्वारा पथिकमुखदर्शन में। तात्पर्य यह है कि यहाँ प्रपालिका और पथिक ने अपने अपने स्वार्थ को ही सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु वे प्रयास ऐसे है जो दूसरे के स्वार्थ में बाधक नहीं अपितु साधक ही हो गये हैं परन्तु इसको परोपकार की संज्ञा दी जा सकती है। अन्योन्यालङ्कार में "परस्पर का उपकार" ऐसा होना चाहिए जो एक दूसरे के लिए निस्वार्थ भाव से किया गया हो। उसी में चमत्कार होता है। इस उदाहरण को अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण नहीं कहा जा सकता।

अत: कुवलयानन्दकार द्वारा प्रस्तुत दोनों उदाहरणों में प्रथम उदाहरण "त्रियामाशशिना भाति शशी भाति त्रियामया।" ही ज्यादा संगत प्रतीत होता है। चन्द्रालोक के रचयिता "जयदेव" ने भी प्रस्तुत उदाहरण को "अन्योन्य" अलङ्कार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है-

"अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकार: परस्परम्। त्रियामा शशिना
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामय।।"

जिस एक दूसरे के प्रति उपकार हो, वह "अन्योन्य" नामक अर्थालंकार होता है। रात चन्द्रमा से शोभित होती है और चन्द्रमा रात से शोभित होता है। प्रस्तुत उदाहरण में रात्रि चन्द्रमा का और चन्द्रमा रात्रि का उपकारक है अत: अन्योन्य अलङ्कार है।

यहाँ रात्रि से चन्द्रमा की शोभा बढ़ती है, इसलिए रात्रि चन्द्रमा के प्रति उपकारी है और चन्द्रमा उपकृत तथा चन्द्रमा से रात्रि की शोभा बढ़ती है अत: चन्द्रमा रात्रि के प्रति उपकारी है तथा रात्रि उपकृत है अत: दोनों में परस्पर उपकार की भावना होने के कारण ही प्रस्तुत उदाहरण अन्योन्य अलङ्कार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि प्रस्तुत अलङ्कारों में क्रिया या कार्य एक होना आवश्यक है, यह किसी चीज से उपकार करे और वह दूसरी से तब यह अलङ्कार नहीं हो सकता। क्रिया या कार्य एक होना आवश्यक यह कहने का आशय यह है कि अन्योन्य अलङ्कार में कार्य एक ही होना चाहिए जैसे रात्रि चन्द्रमा से शोभित होती है यहाँ चन्द्रमा का कार्य है रात्रि की शोभा बढ़ाना, इसी प्रकार चन्द्रमा रात्रि से शोभित होता है यहाँ रात्रि का कार्य है चन्द्रमा की शोभा बढ़ाना। दोनों का कार्य एक ही है इसकी जगह यदि कह दिया जाय कि रात्रि से चन्द्रमा सुशोभित होता है, चन्द्रमा रात्रि को शीतलता प्रदान करता है तो यहाँ परस्पर उपकार तो होगा परन्तु अन्योन्य अलङ्कार नहीं होगा। इसलिए अन्योन्य अलङ्कार में आवश्यक है कि क्रिया या कार्य एक ही हो। और उसी का परस्पर विनिमय होकर पउपकार्योपकारकता सिद्ध होती हो।

आचार्य विश्वनाथदेवकृत "साहित्य सुधासिन्धु" में क्रिया तो एक हो परन्तु इसके साथ-साथ कर्ता आदि कारक भी एक ही हो तब उसे अन्योन्य अलङ्कार माना गया है-

यत्र परस्परमेक: कारकभावोऽभिधेययो: क्रियया।
स जायते स्फारितत्वविशेषस्तदन्योऽन्यम्।।

जहाँ शब्दप्रतिपाद्य दो पदार्थों में परस्पर क्रिया के साथ एक ही कर्ता आदि कारक होने से विशेष चमत्कार होता है वहाँ अन्योऽन्य अलङ्कार होता है-

कण्ठस्य तस्या: स्तनबन्धुरस्य
मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योऽन्यशोभा जननाद् बभूव
साधारणो भूषणभूष्यभाव:।।

यहाँ मुक्ताकलाप के द्वारा कण्ठ की और कण्ठ के द्वारा मुक्ताकलाप की शोभा उत्पन्न किए जाने का वर्णन है।

यहाँ मुक्ताकलाप और कण्ठ कर्ता है तथा दोनों का कार्य भी एक ही है शोभा उत्पन्न करना। मुक्ताकलाप के द्वारा कण्ठ की शोभा उत्पन्न किये जाने पर "मुक्ताकलाप" कर्ता है तथा उसका कार्य है शोभा उत्पन्न करना तथा "कण्ठ" के द्वारा मुक्ताकलाप की शोभा उत्पन्न किये जाने पर "कण्ठ" कर्ता है तथा उसका कार्य है शोभा उत्पन्न करना। अत: प्रस्तुत अलङ्कार में क्रिया के साथ कर्ता आदि कारक भी एक ही होने के कारण अन्योन्य अलङ्कार है। इसकी जगह यदि यह बात कह दी जाय कि भ्रमरों से पुष्प सुशोभित होता है तथा पुष्पों से उद्यान सुशोभित

होता है तो यहाँ क्रिया तो एक ही है, परन्तु कर्ता अलग-अलग है भ्रमरों से पुष्प सुशोभित होता है यहाँ कर्ता भ्रमर है तथा पुष्पों से उद्यान सुशोभित होता है- यहाँ कर्ता पुष्प है अत: कर्ता भिन्न-भिन्न होने से यहाँ अन्योन्य अलङ्कार नहीं हो सकात। अत: अन्योन्यालङ्कार में यह आवश्यक है कि क्रिया के साथ-साथ कर्ता आदि कारक भी एक ही हों।

दो वस्तुओं में परस्पर विशेष संपादन को पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्योन्य अलङ्कार माना है। उनके मतानुसार अन्योन्य अलङ्कार का लक्षण है-

द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्।

दो वस्तुओं में से एक दूसरे के द्वारा परस्पर विशेष संपादन अन्योन्यालंकार कहलाता है।

विशेष का अर्थ है क्रिया आदि अर्थात् एक व्यक्ति जब दूसरे का और दूसरा पहले का कोई विशेष कार्य संपादित करे तो वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता है। उदाहरणार्थ-

सुदृशो जितरत्नजालया सुरतान्तश्रमबिन्दुमालया।
अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे कापि रुचि: परस्परम्।।

सुरत के अन्त में सुन्दर नयन वाली नायिका के स्वेदबिन्दुओं की, रत्नसमूह को जीतने वाली, माला ने और सुवर्ण की सी कान्तिवाले ललाट ने परस्पर अनिर्वचनीय शोभा का संपादन किया।

उपर्युक्त उदाहरण में विशेष वस्तु है "शोभा"। वह गुण रूप है। उस शोभा को स्वेदबिन्दुओं की रत्नसमूह को जीतने वाली माला ने और सुवर्ण की सी कान्ति वाले ललाट ने परस्पर विशेष रूप से बढ़ाया, अर्थात् माला ने ललाट की शोभा को और ललाट ने माला की शोभा को परस्पर विशेष रूप से संपादित किया। अत: यह अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण है।

जहाँ कोई क्रिया विशेषाधानरूपा होती है वहाँ भी अन्योन्यालङ्कार होता है। उदाहरणार्थ-

परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता हृदयं प्रियस्य सीता।
अविशत्परकामिनी भुजङ्गीभयत: सत्वरमेव सोऽपि तस्या:।।

परपुरुष के दृष्टिपातरूप वज्र के आघात से डरी हुयी सीता अपने प्रिय (राम) के हृदय में प्रविष्ट हुई और परस्त्रीरूप सर्पिणी के भय से वे (राम) भी तत्काल उस सीता के हृदय में प्रविष्ट हो गये।

प्रस्तुत उदाहरण में "सीता ने राम के हृदय में और राम ने सीता के हृदय में प्रवेश किया इस प्रकार का जो वर्णन किया गया है इसवर्णन में "प्रवेश क्रिया के परस्पर आधान की बात आती है। अत: यह उदाहरण अन्योन्य अलङ्कार के द्वितीय प्रकार का उदाहरण है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ आदि सभी आचार्यों ने अन्योन्य अलङ्कार के लक्षण के में दो वस्तुओं में परस्पर उपकार की धारण व्यक्त की है। अप्पय दीक्षित ने जो अन्योन्य अलङ्कार का लक्षण माना है और पण्डितराज जगन्नाथ ने जो अन्योन्य अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत किया है उनमें कुछ अन्तर हैं। अप्पय दीक्षित ने जहाँ दो वर्ण्य परस्पर एक दूसरे का उपकार करे वहाँ अन्योन्य अलङ्कार स्वीकार किया।

माना परन्तु पण्डितराज ने दो वस्तुओं में से एक दूसरे द्वारा परस्पर विशेष संपादन को अन्योन्य अलङ्कार का लक्षण स्वीकार किया। अर्थात् अप्पय दीक्षित ने परस्पर उपकार को ही अन्योन्य माना परन्तु उसमें यह आवश्यक नहीं था कि किसी व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति का जो उपकार किया जा रहा है उस उपकार से उसका कोई स्वार्थ न सिद्ध होता हो परन्तु पण्डितराज ने उसी स्थान पर अन्योन्य अलङ्कार स्वीकार किया। जहाँ एक व्यक्ति द्वारा की गयी क्रिया का फल पूर्ण रूप से दूसरे ही व्यक्ति को मिले वह जिस व्यक्ति के द्वारा क्रिया की गयी है उसका उसको न मिले अर्थात् उसकी स्वार्थ सिद्धि में सहायक न हो। उनके मतानुसार यदि किसी व्यक्ति के द्वारा किसी के उपकार के लिए जा क्रिया की गयी है उस क्रिया के द्वारा किसी व्यक्ति का उपकार हो रहा हो, तथा अपना भी स्वार्थ सिद्ध हो रहा हो तो इसको परस्पर उपकार की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि "अन्योन्यालङ्कार के लक्षण में जो "परस्पर का उपकार" कहा गया है वह अपने से (उपकार से) भिन्न अधिकरण में रहने वाले व्यापार के द्वारा साध्य होने वाला ही विवक्षित हो सकता है, क्योंकि उस तरह के परस्परोपकार में ही चमत्कार होता है, न कि उपकार के अधिकरण में रहने वाले व्यापार के द्वारा साध्य होने वाला परस्परोपकार, क्योंकि जैसे बरफ को ठंडा करने के लिए दूसरे का व्यापार अनावश्यक है उसी तरह अपने व्यापार से होने वाले अपने उपकार से अन्य व्यापार की अपेक्षा नहीं रहने से चमत्कार का अभाव होता है।" कहने का अभिप्राय यह है कि अन्योन्यालङ्कार में "परस्पर का उपकार ऐसा ही होना चाहिए जो एक का दूसरे के द्वारा निःस्वार्थ भाव से किया गया हो क्योंकि यदि अपने स्वार्थ के लिए कोई प्रयत्न किया जाता है तो उस प्रयत्न से यदि किसी दूसरे व्यक्ति का कुछ उपकार हो भी जाता है तो वह चमत्कारी नहीं होता, अतः चमत्कार के अभाव में उसे अन्योन्य अलङ्कार नहीं कहा

जा सकता। इसी आधार पर पं0 जगन्नाथ ने कुवलयानन्दकार के उपर्युक्त उदाहरण का खण्डन भी किया है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने जो अन्योन्य अलङ्कार का लक्षण दिया है वह ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है लेकिन उन्होंने अप्पय दीक्षित के "अत्र प्रपापालिकाया:---------------" में वाक्य रचना की शिथिलता का दोष बताया है तथा "यथोध्वक्षि:" इस उदाहरण को भी अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण नहीं माना है वह उचित नहीं लगता है क्योंकि उन्होंने जो अप्पय दीक्षित के "स्व" पद का अर्थ किया है वह क्रमश: पथिक और प्रपापालिका है लेकिन उनके स्वयं के मतानुसार "स्वमुखावलोकनाभिलषन्त्या:- अपने मुख का दर्शन चाहती हुई" इस वाक्यांश में "स्व" शब्द प्रपापालिका का बोधक है और "स्वमुखावलोकनमभिलषत:"- अपने मुख का दर्शन चाहते हुए" में "स्व" शब्द जो है वह पथिक का बोधक है। लेकिन अप्पय दीक्षित ने "अत्र प्रपापालिकाया:-------------" इस वाक्य में उन्होंने "स्व" शब्द की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है तथा इसी प्रकार पण्डितराज ने जो अप्पय दीक्षित के उपर्युक्त उदाहरण को अन्योन्य अलङ्कार का उदाहरण नहीं माना है वह भी ठीक नहीं लगता क्योंकि अप्पय दीक्षित ने स्वयं इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में यद्यपि दोनों-पथिक और प्रपापालिका- के व्यापार के द्वारा अपना अपना उपकार किया जा रहा है, तथापि वे एक दूसरे का भी उपकार अवश्य कर रहे हैं, अत: उनके द्वारा विहित परस्परोपकार का निषेध नहीं किया जा सकता।[1]"

1- अत्रोभयोर्व्यापाराभ्यां स्वस्वोपकारसद्भावेऽपि परस्परोपकारोऽपि न निवार्यते।।

कुवलयानन्द- पृ0 169

इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गयी कि दो वस्तुओं में एक दूसरे द्वारा परस्पर विशेष संपादन होने पर अन्योन्य अलङ्कार होता है। दो वस्तुओं में सामान्यत: कार्यकारण या जन्यजनक-भाव रहता है अर्थात् दो वस्तुओं में एक कार्य होता है तथा दूसरा कारण परन्तु अन्योन्य अलङ्कार में यह बात नहीं होती है इसमें जो दो पदार्थ है वे एक दूसरे के कारण बताये जाते है उनमें पहले के सौन्दर्य का जनक दूसरा और दूसरे के सौन्दर्य का जनक पहला होता है यही अन्योन्य का सौन्दर्य है तथा इसी में इस अलङ्कार की अलङ्कारता एवं विरोधमूलकता है।

सप्तम अध्याय

अलङ्कार-विवेचन

विशेष

व्याघात

विशेष अलङ्कार

विशेष अलङ्कार की गणना विरोधमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत की गयी है। जैसा कि अधिक अलङ्कार के प्रसङ्ग में भी यह बात कही जा चुकी है कि अनानुरूप्य ही विरोध का कारण है। अनानुरूप्य के कारण ही विरोध की उत्पत्ति होती है। यही बात विशेष अलङ्कार के प्रसङ्ग में भी कही जा सकती है क्योंकि विशेष अलङ्कार में भी अनुरूपता को छोड़ देने के कारण विरोध ही परिलक्षित होता है। अतः विशेष अलङ्कार के मूल में भी विरोध के विद्यमान रहने के कारण इसे (विशेष अलङ्कार को) विरोधमूलक अलङ्कार माना गया है। रूद्रट ने इसे अतिशयमूलक अलङ्कार माना है परन्तु अन्य आचार्यों ने इसे विरोधमूलक अलङ्कार स्वीकार किया। रूद्रट ने विशेष अलङ्कार के तीन रूपों की कल्पना की। उसके प्रथम रूप में उन्होंने यह बात कही है कि जहाँ निश्चित आधार वाली भी कोई वस्तु आधार के बिना वर्णित की जाती है, (और इसकी) यह (निराधारता) उपलभ्यमान होती है, वहाँ विशेष अलङ्कार होता है। तथा जहाँ एक वस्तु अनेक आधारों में युगपद कही जाती है वहाँ अन्य विशेष अलङ्कार होता है। इसी प्रकार जहाँ कर्ता किसी एक कार्य को करता हुआ किसी ऐसे अन्य कार्य को भी साथ ही कर देता है जिस कार्य को करने में वह असमर्थ होता है तो ऐसे वर्णन में भी विशेष अलङ्कार माना जाता है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने भी विशेष अलङ्कार का लक्षण इसी प्रकार प्रस्तुत करते हुए इसके तीन भेद स्वीकार किये। उनके मतानुसार विशेष अलङ्कार का लक्षण है-

विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थिति:।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा।।

अन्यत् प्रकुर्वत: कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुन:।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृत:।।

1· प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति (का वर्णन होने पर एक प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है), 2· एक पदार्थ की एक ही रूप में अनेक जगह एक साथ उपस्थिति (का वर्णन होने पर दूसरे प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है), अन्य कार्य को करते हुए उसी प्रकार से (अथवा अनायास) किसी अशक्य वस्तु का उत्पादन (वर्णन होने पर तीसरे प्रकार का विशेष होता है) इस प्रकार तीन तरह का विशेष (अलङ्कार माना गया है। उदाहरणार्थ-

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिर: कथमिह कवयो न ते वन्द्या:।।

स्वर्गवास होने पर भी प्रचुर गुणों से युक्त जिनकी (काव्यरूप) वाणी संसार (सहृदय जनों) को को प्रलयपर्यन्त आह्लादित करती रहती है वे कवि वन्दनीय क्यों न माने जायें।

उपर्युक्त उदाहरण में कवि आधार है, वाणी आधेय कविरूप प्रसिद्ध आधार के स्वर्गवास होने पर उसके अभाव में भी अर्थात् आधार का परित्याग करके आधेय (कविगिरा) की आप्रलय स्थिति का वर्णन किया गया है, अत: यह विशेष अलङ्कार के प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति रूप प्रथम भेद का उदाहरण है।

सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु।

अस्मादृशीनां सुन्दर ! अवकाशः कुत्र पापानाम्।।

वह (नायिका) तुम्हारे हृदय में रहती है, वह (तुम्हारी) आँखों में बसी है और वही (तुम्हारे) वचनों में रहती है। तब हे सुन्दर! हमारी जैसी अभागिनियों के लिए (तुम्हारे पास) स्थान ही कहाँ हो सकता है।

प्रस्तुत उदाहरण में नायिका आधार है तथा उक्त नायिका का एक साथ अनेक जगह में वर्णन हुआ है अतः यह विशेष अलङ्कार के दूसरे भेद का उदाहरण है।

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्।

विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च।।

हे राजन् ! अद्भुत (लोकोत्तर) सौन्दर्य से युक्त, अत्यन्त तेजस्वी और उत्तम विद्या से विभूषित आपको उत्पन्न करते हुए ब्रह्मा ने (उसी प्रयत्न से अनायास) सचमुच पृथ्वी पर दूसरे नवीन कामदेव, दूसरे सूर्य और दूसरे बृहस्पति की रचना कर दी है।

यहाँ इस उदाहरण में राजा के निर्माण रूप कार्य को करते हुए विधाता ने उसी प्रयत्न से दूसरे कामदेव, सूर्य तथा बृहस्पतिरूप अशक्य कार्य को उत्पन्न किया। इस प्रकार का वर्णन होने से यह विशेष अलङ्कार के तीसरे भेद का उदाहरण है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने रुद्रट के ही विशेष अलङ्कार के तीनों भेदों को स्वीकार किया अन्तर केवल इतना है कि विशेष अलङ्कार के प्रथम भेद के लक्षण में रुद्रट ने निश्चित आधार वाली भी कोई वस्तु आधार के बिना वर्णित की जाती

है और इसकी यह निराधारता उपलभ्यमान होती है यह बात कही है, परन्तु मम्मट ने प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय का वर्णन विशेष अलङ्कार का प्रथम भेद माना है।

रूय्यक ने भी आचार्य मम्मट के मत का ही अनुसरण करते हुए विशेष अलङ्कार के तीन भेद स्वीकार किये। उनके मतानुसार विशेष अलङ्कार का लक्षण है-

अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः।

आधेय का आधारहीन होना, एक का अनेकगोचर होना तथा असम्भाव्य वस्त्वन्तर का निष्पादन विशेष है।

आधार के बिना आधेय नहीं रहता, यह होने पर भी उस(आधार) को छोड़कर आधेय का वर्णन होने पर विशेष का प्रथम भेद तथा एक परिमित वस्तु को एक साथ अनेकत्र वर्तमान बताना दूसरा विशेष तथा प्रारम्भ तो किसी का हो और निष्पादन किसी अन्य असम्भाव्य वस्तु का हो ऐसा होने पर विशेष अलङ्कार का तीसरा भेद होता है।

प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय की विशेष प्रकार की स्थिति का वर्णन होने पर प्रथम प्रकार का विशेष होता है। उदाहरणार्थ-

"दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः।।"

जो स्वर्ग जा चुके है पर जिनकी अनन्य गुणगान वाली वाणी जगत् को आनन्द देती रहती है वे कवि भला क्यों न वन्दनीय हों।

प्रस्तुत उदाहरण में जो स्वर्ग जा चुके हैं वे कविगण तो प्रसिद्ध आधार हैं तथा प्रचुर गुणों से युक्त उनकी काव्यरूप वाणी जो है आधेय है। अत: कविगण जो स्वर्ग जा चुके हैं उनके स्वर्ग चले जाने पर भी अर्थात् {कवि रूप आधारों के न रहने पर भी} प्रसिद्ध आधार का परित्याग होने पर उनकी वाणी जो कि आधेय है उसकी विशेष प्रकार की स्थिति का वर्णन हुआ है इसलिए यहाँ विशेषालङ्कार है।

इसी प्रकार एक परिमित वस्तु का एक साथ अनेकत्र वर्तमान बताना अर्थात् जब एक परिमित वस्तु का एक साथ अनेक जगह वर्णित होती है तो वहाँ विशेष अलङ्कार का दूसरा भेद होता है। उदाहरणार्थ-

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठत: सा पुर: सा
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेत: प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैत वाद:।।

प्रासाद पर वह और पथ-पथ पर वह, पीछे वह, आगे वह, पर्यंक पर वह, दिशा दिशा में वह, उसके वियोग में आतुर मेरे लिए तो मन की कोई दूसरी प्रकृति नहीं रह गयी है, वह, वह, वह, वह, वह, वह सारे संसार में है, कैसा अपूर्व है अद्वैत का यह सिद्धान्त।

उपर्युक्त उदाहरण में एक ही रमणी की प्रासाद आदि में एक साथ अवस्थिति है अत: यह विशेषअलङ्कार के दूसरे भेद का उदाहरण हुआ। एक रमणी एक समय में एक स्थान पर ही रह सकती है यह व्यावहारिक यथार्थ है। परन्तु यहाँ नायिका के प्रेम में मग्न नायक के मुख से यह चमत्कारमयी युक्ति कहलाई गई है जो यहाँ

प्रारम्भ किसी वस्तु का हो और निस्पादन किसी अन्य असम्भाव्य वस्तु का हो ऐसी स्थिति में अर्थात् जो ‖दूसरे अशक्य कार्य को भी करूँगा इसका विचार किये बिना‖ यदि कोई जल्दी से किसी कार्य को प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति जिस प्रयत्न से किसी कार्य को प्रारम्भ करता है उसी प्रयत्न से यदि वह किसी आशक्य दूसरे कार्य को उत्पन्न कर देता है तो वहाँ तीसरे प्रकार का विशेष होता है उदाहरणार्थ-

> निमेषमपि यद्येकं क्षपिदोषे करिष्यसि।
> पदं चित्ते तदा शंभो किं न संपादयिष्यसि।।

यदि एक क्षण भी दोषमुक्त मन पर शिव ! तुमने अपना स्थान बना लिया तो भला क्या नहीं पूरा कर दोगे? इस उदाहरण में "मन पर स्थान बना लेना" ‖यह‖ प्रसंग रहने पर भी लोकोत्तर वस्तु का निष्पादन हुआ है। अर्थात् यदि शिव ने दोषमुक्त मन पर स्थान बना लिया तो इस एक कार्य को करते हुए उसी प्रयत्न से दूसरे अर्थात् समस्त अशक्य कार्यों को भी सम्पादित कर सकते है इस प्रकार का वर्णन हुआ है अतः यह तीसरे प्रकार के विशेष अलङ्कार का उदाहरण है।

इस प्रकार विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित आदि आचार्यों ने भी विषम अलङ्कार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए इसके उपर्युक्त तीनों भेदों को स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेष अलङ्कार के तीसरे भेद को स्वीकार नहीं किया है। उनके मतानुसार विशेष अलङ्कार का लक्षण है-

प्रसिद्धमाश्रयं बिना आधेयं वर्ण्यमानमेको विशेष प्रकारः। यच्चैकमाधेयं परिमितयत्किंचिदाधारगतमपि युगपदनेका धारगततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेष प्रकारः।।

अर्थात् विशेषालङ्कार प्रथमत: दो प्रकार का होता है- [1] प्रसिद्ध आश्रय [आधार] के बिना वर्णित होने वाला आधेय यह एक प्रकार का है- अर्थात् जिस आधेय का जो प्रसिद्ध आधार है उसके बिना यदि उस आधेय का वर्णन किया जाता है तब वहाँ एक प्रकार का विशेषालङ्कार माना जाता है और [2] एक आधेय का जिस किसी परिमित आधार में रहने पर भी एक साथ अनेक आधारों में रहने के रूप से वर्णन किया जाय- यह दूसरा प्रकार है- अर्थात् जिस आधेयभूत वस्तु की स्थिति किसी एक आधारभूत वस्तु में प्रसिद्ध है एक साथ उसकी स्थिति का वर्णन यदि अनेक आधारों में किया जाय तब वहाँ दूसरे प्रकार का विशेषालङ्कार स्वीकृत होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के विशेषालङ्कार के लक्षण में और रुय्यककृत विशेषालङ्कार के लक्षण में एक अन्तर यह भी है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने विशेषालङ्कार के लक्षण में "युगपत्" [एक साथ] इस विशेषण का प्रयोग किया है जिसके कारण विशेषालङ्कार की पर्याय अलङ्कार में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि पर्याय अलङ्कार में भी एक आधेय का अनेक आधारों में वर्णन रहता है, परन्तु एक आधेय का जो अनेक आधारों में वर्णन रहता है वह एक साथ नहीं, अपितु क्रमश: होता है अत: ऐसी स्थिति में यदि विशेषालङ्कार के द्वितीय लक्षण में "युगपत्" नहीं कहा जाता तो यह लक्षण पर्याय अलङ्कार के उदाहरण में भी संघटित होने लगता, इसीलिए यहाँ "युगपत्" इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेषालङ्कार के जो तीन भेद किए है उनमें जो प्रथम भेद है उसके भी दो उपभेद किए हैं। उनके मतानुसार उक्त तीन प्रकारों में से प्रथम प्रकार [प्रसिद्ध आधार के बिना वर्ण्यमान आधेय] दो तरह का होता है-

सर्वथा आधार के अभाव में ही आधेय का वर्णित होना। उदाहरणार्थ-

"अये राजन्नाकर्णय कुतुकमाकर्णनयन-
त्वदाधारा कीर्तिर्वसतिकिल मौलौ दशदिशाम्।
त्वदेकालम्बोऽयं गुणगणकदम्बो गुणनिधे
मुखेषु प्रौढानां विलसति कवीनामविरतम्।।"

हे आकर्णनयन (विशाल नेत्र)! एक कुतुक (आश्चर्यजनक बात) को सुनें- आप जिसके आधार हैं वह कीर्ति दशों दिशाओं के मस्तक पर निश्चित रूप से निवास करती है, और हे गुणनिधे! जिसके एक मात्र आप आलम्बन हैं ऐसा यह गुणावली का समूह प्रौढ़ कवियों के मुखों में निरन्तर क्रीड़ा कर रहा है।

प्रस्तुत उदाहरण में कीर्ति आधेय है जिसका प्रसिद्ध आधार राजा है। उस कीर्ति का दिशाओं के मस्तक रूप अन्य आधार में वर्णन हुआ है, इसी तरह गुणसमूह आधेय है और जिस गुणसमूह का प्रसिद्ध आधार राजा है। उसका वर्णन कविमुखरूप अन्य आधार में किया गया है, अतः यह विशेषालङ्कार के प्रथम प्रकार के प्रथम उपभेद का उदाहरण है।

इसी प्रकार विशेषालङ्कार के प्रथम प्रकार के द्वितीय उपभेद अर्थात् आधार के अभाव में ही आधेय का वर्णन होने का उदाहरण-

"युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूद्विनाशः।
इदं तु चित्रं भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्तिः।।"

आसफ खाँ [एक यवन राजा] रूप चन्द्रमा के स्वर्ग चले जाने पर उनके आश्रितों का जो विनाश हुआ यह तो उचित ही था, पर आश्चर्य यह है कि- संसार के शून्य भागों में उनकी कीर्ति निराश्रय होकर भी क्रीडा कर रही है।

उपर्युक्त उदाहरण में राजा आधार है और कीर्ति आधेय है। यहाँ आधार का सर्वथा अभाव है। अत: आधार के सर्वथा अभाव में आधेय कीर्ति की स्थिति का वर्णन होने से यह विशेषालङ्कार के प्रथम प्रकार के द्वितीय उपभेद का उदाहरण है।

विशेष अलङ्कार के द्वितीय प्रकार का उदाहरण-

नयने सुदृशां पुरो रिपूर्णा वचने वश्यगिरां महाकवीनाम्।
मिथिलापतिनन्दिनीभुजान्त: स्थित एव स्थितिमाप रामचन्द्र:।।

भगवान् राम ने मिथिलेशनन्दिनी [सीता] की भुजाओं के मध्य में स्थित रहते हुए ही सुन्दर नयनवाली नायिकाओं के नयनों में, शत्रुओं के पुर: प्रदेश में और महाकवि वश्यवाक् महाकवियों के वचन में एक साथ स्थिति प्राप्त की।

प्रस्तुत उदाहरण में सीताभुज-मध्यरूप परिमित आधारस्थायी राम रूप आधेय की स्थिति का वर्णन एक साथ सुनयना-नयन आदि अनेक आधारों में की गयी है अत: यह विशेष अलङ्कार द्वितीय प्रकार का उदाहरण है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेष अलङ्कार के दो ही भेद स्वीकार किये हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट आदि आचार्यों ने जो विशेष अलङ्कार का तीसरा भेद अर्थात् अन्य कार्य को करते हुए उसी प्रकार से किसी अशक्य वस्तु का उत्पादन माना है उसका खण्डन किया है। उनके मतानुसार प्राचीन आचार्यों ने जो "अशक्य अन्य वस्तु का संपादन" विशेषालङ्कार का ही प्रभेद माना है उचित नहीं

है क्योंकि रूपक आदि के समान इस विशेषालङ्कार का कोई सामान्य लक्षण नहीं है जिससे आक्रान्त होने पर अशक्य अन्य वस्तु के संपादन को विशेष अलङ्कार का भेद माना जाय। और यदि "इन तीनों में से कोई एक" यह सामान्य लक्षण माना जाय तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार से तो इसे अन्य किसी अलङ्कार का भेद भी कहा जा सकता है। अत: किसी प्रमाणित सामान्य लक्षण के अभाव में इसे विशेषालङ्कार का एक भेद कहना केवल राजादेश है, इसकी अपेक्षा तो इसको एक स्वतन्त्र अलङ्कार मान लेना ही अधिक युक्तिसंगत है।

पण्डितराज ने विशेष अलङ्कार के निरूपण में प्राचीन आचार्यों के मत को जो अयुक्तिसंगत बताया है वह उचित नहीं लगता क्योंकि किसी भी आचार्य ने विशेष अलङ्कार का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया है तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं भी इसका कोई सामान्य लक्षण न देते हुए विशेष अलङ्कार के दो भेदों का ही उल्लेख किया है। प्राचीन आचार्यों के मतानुसार उन्होंने "कोदण्ड"- इत्यादि उदाहरण प्रस्तुत कर अन्त में उस उदाहरण में निदर्शना मानते हुए अपनी ओर से उसका एक और उदाहरण प्रस्तुत किया तथा उस उदाहरण के द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि जिसको प्राचीन आचार्य विशेष का तृतीय प्रकार कहते हैं वह एक स्वतन्त्र अलङ्कार है विशेष नहीं अत: उसे स्वतन्त्र अलङ्कार मानते हुए उसका कुछ भी नाम रखा जा सकता है, और उसका उदाहरण भी सादृश्य प्रतीति वाला स्थल नहीं हो सकता, अपितु कार्यकारण भावप्रतीति वाला स्थल हो सकता है।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने विशेष अलङ्कार का विवेचन किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि विशेष अलङ्कार की विरोधमूलकता इसके अनानुरूप्य सम्बन्ध के कारण है। सामान्यत: एक वस्तु का एक ही आधार में

वर्णन होता है परन्तु विशेष अलङ्कार में एक ही वस्तु का एक साथ अनेक आधारों में वर्णन होता है तथा इसके एक भेद में कर्ता किसी एक कार्य को करता हुआ किसी ऐसे अन्य कार्य को भी साथ ही कर देता है जिस कार्य को करने में वह असमर्थ होता है। अतः इस प्रकार के वर्णन में ही चमत्कार होता है। कवि अपनी प्रतिभा के आधार पर ही इस प्रकार का वर्णन करता है। आधार के बिना आधेय नहीं रहता, यह होने पर भी उस आधार को छोड़कर आधेय का वर्णन, एक परिमित वस्तु को एक साथ अनेकत्र वर्तमान बताना, तथा प्रारम्भ किसी कार्य का होना और निष्पादन किसी अन्य असंभाव्य वस्तु का होना इसी में इस अलङ्कार का सौन्दर्य है तथा यही इस अलङ्कार की विरोधमूलकता है क्योंकि अनुरूपता को छोड़ देने से विरोध की उत्पत्ति होती है और विशेष अलङ्कार में भी इसी प्रकार का वर्णन होता है। अतः विशेष अलङ्कार भी विरोधमूलक अलङ्कार है।

व्याघात अलङ्कार

जहाँ अन्य कारण से किसी तरह की बाधा न होने पर कोई कारण कार्य का उत्पादन न कर सके वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है। यदि कारण का कोई बाधक तत्व ही न रहे तो उससे तो कार्य की उत्पत्ति न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कोई बाधक तत्व न रहे तो कार्य की उत्पत्ति अवश्य होनी चाहिए। लेकिन बाधक तत्व के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होने के वर्णन में ही चमत्कार है और इसी में अलङ्कारत्व है। परन्तु विशेषोक्ति में प्रसिद्ध कारण के होने पर भी अप्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इसमें कारण के किसी बाधक तत्व के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

जिस उपाय से एक व्यक्ति किसी कार्य या वस्तु को बनाता है अर्थात् जो वस्तु किसी एक ने एक प्रकार से सिद्ध की है और दूसरा व्यक्ति उसको जीतने की इच्छा से उसी उपाय से उस सिद्ध की हुयी वस्तु को बदल दे अर्थात् उसी वस्तु को पहले से विपरीत कर दे तो व्याघात का कारण होने से व्याघात अलङ्कार कहलाता है। प्रस्तुत अलङ्कार में कर्ता की अभीष्ट सिद्धि का जो साधन है उस साधन से ही दूसरे के द्वारा उसके इष्ट का व्याघात होता है इसी कारण इसे व्याघात कहा जाता है।

आचार्य मम्मट के मतानुसार व्याघात अलङ्कार का लक्षण है-

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः।

किसी बात को कोई जिस प्रकार से सिद्ध करे (बनावे) उसको उसी प्रकार से यदि दूसरा बदल दे (बिगाड़ दे) उसको व्याघात अलङ्कार कहते है। अर्थात् जहाँ कर्ता के द्वारा जिस उपाय से कार्य साधन किये जाने का निर्देश हो उसी उपाय से अन्य व्यक्ति के द्वारा उस कार्य को अन्यथा करने का वर्णन व्याघात है।

आचार्य रुय्यक ने भी "जहाँ किसी उपाय से साधित कार्य का अन्य के द्वारा उसी उपाय से अन्यथाकरण हो उसे व्याघात अलङ्कार का लक्षण माना तथा साथ ही उन्होंने व्याघात अलङ्कार के दूसरे रूप की कल्पना करते हुए यह भी कहा कि जहाँ किसी कार्य के सम्पादन के लिए सम्भावित कारण को दूसरा व्यक्ति उस कार्य के विरुद्ध कार्य का निष्पादक बता दे, वहाँ भी व्याघात अलङ्कार होता है। उन्होंने व्याघात अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

यथासाधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः।।

जिस किसी उपाय-विशेष को लेकर किसी के द्वारा जो वस्तु सम्पादित है, उसका उससे भिन्न किसी दूसरे के द्वारा- जो उसका प्रतिद्वन्द्वी है- उसी उपाय-विशेष के सहारे जो अन्यथा निष्पादन है वह सम्पादित वस्तु की व्याहति के कारण व्याघात कहलाता है।

सौकर्येण कार्यविरुद्ध क्रिया च।।

सुकरता के साथ कार्य के विपरीत क्रिया भी [व्याघात है]।

व्याघात अलङ्कार के दूसरे भेद अर्थात् सुकरता के साथ कार्य के विपरीत क्रिया को भी व्याघात मानते हुए रूय्यक ने स्पष्ट रूप से यह बात कही है कि किसी कार्य को साधने के लिए सम्भावित हेतु-विशेष का उस कार्य से विरुद्ध साधक के रूप में जो समर्थन किया जाए, वह भी संभावित कार्य की व्याहति को लेकर होने के कारण व्याघात है। [संभावित] कार्य के विरुद्ध [दूसरे] कार्य का साधन सुनकर इसलिए होता है क्योंकि इस कारण की उस [दूसरे कार्य] से अत्यधिक अनुरूपता रहती है। इस [अलङ्कार] में अभीष्ट की कार्यता समाप्त नहीं होती अपितु उससे विपरीत [कार्य] का सुकरता से सम्पादन हो जाता है।

यद्यपि व्याघात के इन दोनों रूपों में कोई महत्वपूर्ण व्यावर्तक धर्म नहीं है। जहाँ कर्ता ने जिस उपाय से कोई कार्य बनाया हो उसी उपाय से कर्ता के अभिमत के विरुद्ध कार्य का बना देना है व्याघात का दूसरा रूप है। व्याघात के इस दूसरे रूप की करना भी आवश्यक नहीं मालूम पड़ती। आचार्य विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि कतिपय आचार्यों ने व्याघात के इन दोनों भेदों को स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने व्याघात के इन दोनों रूपों का समाहार करते हुए व्याघात अलङ्कार का यह लक्षण प्रस्तुत किया है-

यत्र ह्येकेन कर्ता येन कारणेन कार्यं किंचिन्निष्पादितं निष्पपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्येत स व्याघात:।।

जहाँ एक कर्ता ने जिस कारण से कोई कार्य बनाया हो अथवा बनाना चाहा हो वह कार्य दूसरे कर्ता द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य के बना देने से अथवा बना देने की इच्छा से बिगाड़ दिया जाय उसे व्याघात कहते है।

इस तरह से व्याघात अलङ्कार के दो प्रकार सिद्ध होते हैं- एक बने कार्य का बिगड़ना और दूसरा बनाने के लिए अभिलषित कार्य का बिगाड़ना।

यहाँ कर्ता से तात्पर्य है किसी कार्य को उद्देश्य बनाकर उसमें प्रवृत्त हो जाने वाला व्यक्ति न कि किसी तरह कार्य की सिद्धि में हेतु बन जाने वाला व्यक्ति। कहने का भाव यह है कि जहाँ किसी व्यक्ति का किसी कार्य के प्रति कर्तृत्व हो और कर्तृत्व के होते हुए भी उसकी उस कार्य में प्रवृत्ति न हो तो उस स्थान पर यह अलङ्कार नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ-

"पाण्डित्येन प्रचण्डेन येन माद्यन्ति दुर्जना:।
तेनैव सज्जना रूढा यान्ति शान्तिमनुत्तमाम्।।"

अर्थात् जिस प्रखर पाण्डित्य से दुर्जन मदमत्त हो जाते हैं, उसी पाण्डित्य से प्रख्यात सज्जनगण सर्वोत्तम शान्ति को प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत उदाहरण व्याघात अलङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ पर दुर्जन मद का और सज्जन शम का कर्ता अवश्य बन गया है परन्तु इसमें

दुर्जन और सज्जन का मद और शान्ति के प्रति कर्तृत्व होते हुए भी उसमें प्रवृत्तत्त्व नहीं है अर्थात् यहाँ पर दुर्जन की प्रवृत्ति मद के उद्देश्य से और सज्जन की प्रवृत्ति शम के उद्देश्य से नहीं हुयी है। यहाँ मद तथा शम आनुषङ्गिक रूप से है उसके लिए कोई खास प्रयास नहीं किया गया है।

प्रस्तुत उदाहरण में एक शंका यह हो सकती है कि यहाँ पर जिस प्रकार पाण्डित्य से दुर्जन मदमत्त हो जाते है उसी पाण्डित्य से सज्जन शान्ति को प्राप्त करते है यद्यपि "पाण्डित्य" मदमत्त होने का भी कारण है और शान्ति प्राप्ति का भी कारण है कहने का भाव यह है कि वही पाण्डित्य दुर्जन के मदमत्त होने का तथा सज्जन की शान्ति प्राप्ति का कारण है दुर्जन तो उससे मदमत्त हो जाता है परन्तु सज्जन उसी से शान्ति प्राप्त करते हैं। अतः यहाँ व्याघात अलङ्कार होना चाहिए।

इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि इस उदाहरण को व्याघात अलङ्कार का उदाहरण मानना ठीक नहीं है इसमें एक ही कारण से दो विरुद्ध कार्यों की उत्पत्ति दो आश्रयों में हो वह इसमें बाधक नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ दुर्जन और सज्जन रूप आश्रय के भेद से एक ही पाण्डित्य मद और शम दोनों का कारण हो सकता है और इसमें किसी तरह की कोई बाधा भी नहीं है तो यह बात तो लोकसिद्ध ही हुयी और लोकसिद्ध वस्तु काव्यालङ्कार का स्थान नहीं हो सकती क्योंकि काव्यालङ्कार होने के लिए किसी भी वस्तु का कविप्रति भोत्थित होना आवश्यक है। यहाँ विरोध ही इस अलङ्कार का मूल है और इस स्थिति में जब कि एक ही पाण्डित्य मद और शम दोनों का कारण है विरोध का आभास ही नहीं होता है क्योंकि विरोध का भान तभी हो सकता है जब दो बाधित कार्यों

की उत्पत्ति हो और यह मद तथा श्रम रूप जो कार्य है वो बाधित ही नहीं है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण को व्याघात अलङ्कार का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

"व्याघात अलङ्कार के प्रथम भेद का उदाहरण-

दीनद्रुमान्वचोभि: खलनिकरैरनुदिनं दलितान्।

पल्लवयन्त्युल्लसिता नित्यं तैरेव सज्जनधुरीणा:।।"

दुष्ट समूहों द्वारा वचनों से प्रतिदिन दलित दीनजनरूप वृक्षों को सज्जन-मूर्धन्यजन उल्लसित {प्रसन्न} होकर नित्य उन्हीं {वचनों} के द्वारा पल्लवित करते हैं।

यहाँ दुष्टसमूह रूप कर्ता से वचनों द्वारा किए गए दीन जन दलन रूप कार्य का सज्जनों से वचनों के द्वारा व्याहत होने का वर्णन है इसलिए व्याघात अलङ्कार का उदाहरण हुआ। यद्यपि यहाँ "वचोभि" और "तैरेव" ये ही दो पद हैं इन दोनों पदों के श्रवण से "वचनत्व" रूप से जिस धर्म का बोध होता है उस पर आगे विचार करने पर कठोर एवं मधुर दोनों तरह के वचन अभिन्न हो जाते हैं। कहने का भाव यह है कि कठोर एवं मधुर इन दोनों तरह के वचनों में एकत्व का आरोप हो जाता है। इस प्रकार पहले तो यहाँ पहले वचनों से ही दीनद्रुमदलन और फिर जिन वचनों से दीनद्रुमदलन होता है उन्हीं वचनों से उनका पल्लवन कैसे हो सकता है इस तरह विरोध की प्रतीति होती है, परन्तु बाद में जब तत्कार्य हेतुता का विचार किया जाता है कि सामान्यत: वचन तो एक ही है। लेकिन एक होने पर भी कठोरता और मधुरता के भेद से वस्तुत: वचन दो हैं उनमें से प्रथम प्रकार का जो {कठोर} वचन है वह दलन का कारण है और द्वितीय प्रकार का जो {मधुर} वचन है वह

पल्लवन का कारण है, अत: कठोर और मधुर मे दो तरह के वचनों से दलन तथा पल्लवन रूप दो कार्य हो सकते हैं ऐसी प्रतीति होने पर उक्त विरोध निवृत्त हो जाता है। अत: यहाँ पर विरोधमूलक व्याघात अलङ्कार है।

इसी प्रकार जहाँ एक कर्ता के द्वारा जिस कारण से किसी कार्य को सम्पादित करने की अभिलाषा हो उसमें अन्य कर्ता के द्वारा उसी कारण से किसी विरुद्ध कार्य को सम्पादित करने की अभिलाषा से बाधा डाली जाय तो भी व्याघात अलङ्कार होता है जैसे-

विमुञ्चसि यदि प्रिय प्रियतमेति मां मन्दिरे
तदा सह नयस्व मां प्रणयन्त्रणायन्त्रित:।
अथ प्रकृतिभीरुरित्यखिलभीतिभङ्गक्षमा-
न्न जातु भुजमण्डलादवहितो बहिर्भावय।।

हे प्रिय ! मैं आपकी प्रियतमा हूँ इस कारण आप मुझे घर पर छोड़ना चाहते हैं तो प्रेम की व्यथा से व्यथित आप मुझे साथ ही ले चलिए, और यदि स्त्री स्वभावत: भीरु होती है ऐसा समझ कर आप मुझे छोड़ना चाहते है तो सावधान होकरर, सभी भयों को भङ्ग करने में समर्थ अपने भुजमण्डल से कभी मुझे बाहर मत रखिए।

प्रस्तुत उदाहरण में नायक का अभिलषित कार्य जो कि नायिका को न ले जाना है, व्याहत है। यहाँ प्रियतमात्वं अथवा "भीरुत्व" जो कि घर पर छोड़ना चाहने का कारण है उन्हीं कारणों से "घर पर नहीं छोड़ना" सिद्ध किया जा रहा है। अत: यह व्याघात अलङ्कार के दूसरे भेद का उदाहरण है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार व्याघात के दो भेद करना ठीक नहीं है। उनके मतानुसार व्याघात का एक ही प्रकार होता है। आचार्य मम्मट ने भी व्याघात का एक ही प्रकार माना है क्योंकि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के व्याघातों में कर्ता के अभीष्ट का ही हनन समान रूप से होता है उदाहरणार्थ-

"दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव या:।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ता: स्तुवे वामलोचना:।।

अर्थात् दृष्टि के द्वारा दग्ध किये गये कामदेव को जो दृष्टि से ही जिलाती है, उन विरूपाक्ष को जीतने वाली सुलोचनाओं की मैं स्तुति करता हूँ। प्रस्तुत उदाहरण में शिवरूप कर्ता के द्वारा दृष्टि से निष्पन्न किये गये काम दाह रूप जो कार्य है उस कार्य का व्याहनन नायिका रूप कर्ता के द्वारा दृष्टि से ही कामोज्जीवन-रूप विरूद्ध कार्य की निष्पत्ति दिखलाकर उसका वर्णन हुआ है।

यहाँ प्रस्तुत पद्य में यह शंका होती है कि "जयिनी विरूपाक्षस्य" और "वामलोचना" इन पदों से व्यतिरेक अलङ्कार का ही प्रकाशन होता है जबकि पण्डितराज जगन्नाथ मम्मट के ही मत को मानते हुए इसे व्याघात अलङ्कार का ही उदाहरण मानते है। इस शंका का समाधान करते हुए यह कहा जा सकता है कि यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार व्याघात अलङ्कार का उत्थापक है किन्तु ऐसा कहने पर भी व्याघात अलङ्कार की अलङ्कारता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अलङ्कार का उत्पापक अलङ्कार ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है। उत्थापक अलङ्कार का व्यपदेश नहीं किया जाता, बल्कि उत्थाप्य का ही व्यपदेश होता है। यदि उत्थापक को ही अलङ्कार कहा जाय तो "आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम्" अर्थात् अकलङ्क मुख से कलङ्की

चन्द्र को जीत रही है, में भी अलङ्कार की आपत्ति होगी, क्योंकि यहाँ तो केवल वस्तुरूप अर्थ से ही व्यतिरेक अलङ्कार की उद्भावना हो रही है और इसी प्रकार "दृशादग्धं" इस उदाहरण में भी व्यतिरेक का उत्थापन हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्याघात का कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं है जो व्यतिरेक से रहीत हो। लेकिन यहाँ पर एक शंका यह उठती है कि जब सर्वत्र इन दोनों अलङ्कारो का मिश्रण रहता है तो यदि व्यतिरेक से रहित कोई व्याघात का लक्ष्य उपलब्ध होता तो उसकी गणना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में की जाती। अत: व्याघात को स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त शंका के समाधान में मम्मट के समर्थन में पण्डितराज जगन्नाथ ने यह मत प्रस्तुत किया कि "जिस प्रकार अन्य अलङ्कारों को अलङ्कारान्तर के साथ नित्य सम्बन्धित रखते हुए भी पृथक् अलङ्कार माना जाता है उसी प्रकार यहाँ भी व्याघात को स्वतन्त्र अलङ्कार मानना चाहिए, क्योंकि उस प्रकार के सम्बन्ध में एक विशेष चमत्कार होता है। चमत्कृति ही अलङ्कारों की भेदक है। उदाहरण के लिए अनन्वयादि अलङ्कार सदा उपमा से अनुप्राणित रहते हैं परन्तु फिर भी विशेष चमत्कारी होने से उन्हें स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है उसी प्रकार व्याघात को भी सदा व्यतिरेक से सम्बन्धित रखते हुए भी अलङ्कारान्तर मानने में कोई हानि नहीं है।"

निष्कर्षत: कर्ता जिस उपाय से कोई कार्य सिद्ध करे उसी उपाय से यदि दूसरे कर्ता के द्वारा उस कार्य का अन्यथाकरण है तो वह व्याघात का प्रथम भेद तथा जिस उपाय से वह अपने अभीष्ट कार्य को सम्पादित करना चाहे, उसी उपाय को उसका जो अभीष्ट कार्य है उस अभीष्ट कार्य के के विरुद्ध कार्य का साधक बनाकर

उसके उद्दिष्ट कार्य का अन्यथाकरण है वह व्याघात का दूसरा भेद है। संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है व्याघात दो प्रकार का होता है- एक बने कार्य का बिगाड़ना और दूसरा बनाने के लिए अभिलषित कार्य का बिगाड़ना। इसमें कर्ता की अभीष्ट सिद्धि का जो साधन है उसी साधन से दूसरे के द्वारा उसके इष्ट का व्याघात या हनन होने के कारण इसे व्याघात कहा जाता है तथा यह एक स्वतन्त्र अलङ्कार है विरोध ही इसका मूल है। अतः इसकी गणना विरोधमूलक अलङ्कारों के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में करना उचित ही है।

उपसंहार

अलङ्कारों के स्वरूप, वर्गीकरण एवं विकास का अध्ययन करने के पश्चात् हम अन्ततः इस निष्कर्ष पर तो निश्चित रूप से पहुँचते हैं कि अलङ्कार सौन्दर्य अथवा रमणीयता का पर्याय है। यह रमणीयता जब अर्थ की विदग्धता एवं वचोभङ्गिमा का प्रकाशन करती है तो अर्थालङ्कार कहलाती है। इस अर्थ की रमणीयता को अभिव्यक्ति देने के लिए कवियों ने न जाने कितने प्रकार के वाग्विलासों को प्रस्तुत किया है और आचार्यों ने भी ऐसे विविध प्रसङ्गों को खोज कर अनन्त वाग्विकल्पों की कल्पना की है। वाणी के ये अर्थप्रकार जितने ही हृदयावर्जक होते हैं उतने ही प्रकार के अलङ्कार होते हैं। काव्यालङ्कारकार रूद्रट का भी यही मत है-

"यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तोऽलङ्काराः।"

अलङ्कारों की सादृश्यमूलकता में उपमा अलङ्कार की विविध विच्छित्तियों को दर्शाया जाता है और इसी कारण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों ने सादृश्यमूलक अलङ्कारों के विविध रूपों को अपने अन्दर समाविष्ट किया है। सादृश्यमूलक अलङ्कारों के ही समानान्तर एक प्रकार के उन अलङ्कारों की प्रबलता रही जिन्हें हम "विरोधमूलक" इस सामान्य संज्ञा से अभिहित करते हैं। सादृश्य की भाँति वैसादृश्य, वैषम्य वैधर्म्य एवं विरोध इन तत्वों से अनुप्राणित होने वाले वाणी की विच्छित्तियों के विविध प्रकार हैं जिनको विरोधमूलक संज्ञा देकर हमने विवेचित किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में विरोध से लेकर व्याघात पर्यन्त अर्थात् विरोध, विभावना, विशेषोक्ति कारणातिशयोक्ति, असङ्गति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य,

विशेष तथा व्याघात इन सभी विरोधमूलक अलङ्कारों का निरूपण किया गया है।

विरोधमूलक अलङ्कारों का उपसंहार करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि "इन अलङ्कारों के प्रारम्भ में जिस विरोध की प्रतीति होती है वह केवल विच्छित्ति (चमत्कार) रूप-अर्थात् भान रूप (वास्तविक नहीं) रहता है, अतएव उसकी प्रतीति बिजली की चमक के समान क्षणिक होती है। चिरकालिक (समाप्तिपर्यन्त स्थायिनी) नहीं। इस तरह के विरोध का प्रादुर्भाव इन अलङ्कारों में आंशिक अभेदाध्यवसान के कारण होता है और अभेदाध्यवसाय का उन्मीलन किया जाता है श्लेष, अतिशयोक्ति आदि उपाय से।"

विरोधमूलक अलङ्कारों की परस्पर भिन्नता के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद है। कुछ विद्वानों के मतानुसार उपर्युक्त सभी विरोधमूलक अलङ्कार भिन्न-भिन्न प्रकार की विचित्रता को धारण करते हुए भी विरोधाभास अलङ्कार के ही अवान्तर प्रभेद है।, ये अलङ्कार विरोधाभास से भिन्न अलङ्कार नहीं है इसी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह बात कही है कि जैसे- विविध वैचित्र्य को धारण करते हुए भी कङ्कण आदि आभूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं होते हैं उसी प्रकार अलङ्कार भी विविध वैचित्र्य धारण करते हुए विभिन्न नामों से अभिहित होते हुए विरोधाभास के ही अवान्तर प्रभेद हैं।

अन्य विद्वानों के मतानुसार यदि विरोधमूलक अलङ्कारों के विषय में ऐसी बात मान ली जाय तो सादृश्यमूलक अलङ्कारों में जिनकी गणना हुयी है वे सादृश्य-मूलक रूपक, दीपक आदि सभी अलङ्कार उपमा अलङ्कार के प्रभेद मात्र सिद्ध हो जायेंगे,

क्योंकि विरोधमूलक अलङ्कारों में विरोध अर्थात् विरोधाभास प्रमुख है और सभी विरोधमूलक अलङ्कारों जैसे- विभावना, विशेषोक्ति, कारणातिशयोक्ति, असङ्गति आदि को विरोधाभास का ही अवान्तर प्रभेद मान लिया जाय तो उसी प्रकार सादृश्यमूलक अलङ्कारों में रूपक, दीपक आदि ये सभी अलङ्कार उपमा अलङ्कार के प्रभेद मात्र सिद्ध होंगे। ऐसा मानने पर तो आलङ्कारिकों ने जो उपर्युक्त सभी अलङ्कारों को पृथक्-पृथक् अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया है, उनका सिद्धान्त भी अत्यन्त अस्त-व्यस्त हो जायेगा। अतः विरोधमूलक अलङ्कारों के विषय में यह कहना युक्तिसंगत है कि ये विरोधमूलक अलङ्कार एक दूसरे की अनुसरण करते हुए भी परस्पर भिन्न ही है, क्योंकि सब में किसी न किसी प्रकार का चमत्कार अवश्य रहता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या इस विरोधमूलकता की इयत्ता यही तक है अथवा इसके और भी रूप-भेद हो सकते हैं। अलङ्कारों की इस विरोधमूलकता के विषय में किसी भी आचार्य ने स्पष्ट रूप से कोई बात नहीं कही है। रूय्यक ने जिन अलङ्कारों का ग्रहण किया है प्रायः उन सभी विरोधमूलक अलङ्कारों के प्रारम्भ में उनकी विरोध-मूलकता का स्पष्ट रूप से निर्देश करते हुए उनके लक्षण का विवेचन किया है। पण्डित-राज जगन्नाथ ने भी विरोधाभास से लेकर व्याघात-पर्यन्त सभी अलङ्कारों को विरोधमूलक मानते हुए उनका निरूपण किया है तथा उन सभी अलङ्कारों का विवेचन रूय्यक के ही क्रमानुसार प्रस्तुत किया है। केवल कारणातिशयोक्ति ही ऐसा अतिरिक्त अलङ्कार है जिसे रूय्यक ने विरोधमूलक अलङ्कार मानते हुए उसका विवेचन विरोधमूलक अलङ्कारों के प्रसङ्ग में किया है, पण्डितराज जगन्नाथ ने नहीं, डा० चिन्मयी माहेश्वरी

ने भी विरोधमूलक अलङ्कारों का विवेचन करते हुए विरोध पर आधारित जितने भी अलङ्कार है उनको इस श्रेणी के अन्तर्गत रखा ही है तथा इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अलङ्कारों को भी द्वयर्थप्रधान अलङ्कार कहते हुए उनका भी विवेचन किया है। वे अलङ्कार हैं- अनुज्ञा, तिरस्कार, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्प्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप, अर्थापत्ति तथा ललित।

समासोक्ति अलङ्कार में प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार में अन्य वस्तु के व्यवहार की प्रतीति होती है और इस प्रतीति से उस अन्य वस्तु की अभिव्यक्ति होती है। रूय्यक ने समासोक्ति को तथा अप्रस्तुत प्रशंसा को भी विशेषणविच्छिति पर आश्रित मानते हुए इन दोनों अलङ्कारों को सादृश्यमूलक अलङ्कार माना। समासोक्ति अलङ्कार अर्थ की व्यंजना पर आधृत अलङ्कार है इसमें एक की उक्ति से उसके समान विशेषण वाले अन्य अर्थ की व्यंजना होती है। अत: एक के कथन-मात्र से दो अर्थों का बोध करने के कारण इसे द्वि-अर्थ प्रधान अलङ्कार माना गया। सादृश्य आदि प्रकारों में से किसी एक प्रकार से अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार प्रशंसित हो वहाँ उस तरह की वह प्रशंसा ही अप्रस्तुतप्रशंसा कहलाती है। इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में भी अप्रस्तुत की उक्ति से प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है। अत: यह भी द्वयर्थप्रधान अलङ्कार है तथा इस अलङ्कार की सादृश्यमूलकता के लिए आवश्यक है कि अप्रस्तुत तथा उससे व्यक्त होने वाले प्रस्तुत में सादृश्य सम्बन्ध हो। जहाँ यह सम्बन्ध सादृश्य के रूप में न होकर अन्य किसी रूप में होता है वहाँ इसे सादृश्यमूलक अलङ्कार नहीं माना जाता।

इस प्रकार विरोधमूलक अलङ्कारों में विरोध का बीज किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है। विरोधमूलक अलङ्कारों में भी विरोधमुखेन उपस्थापित अर्थ वर्ण्य वस्तु में विशेष चमत्कार ला देता है। विवेचित विरोधमूलक अलङ्कारों के विविध उदाहरणों का पर्यालोचन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन अलङ्कारों के उदाहरण प्राय: श्रृङ्गार-वर्णन प्रसङ्ग के हैं। अनेक स्थलों पर वीरादि रसों, राजप्रशस्तियों में भी इनका प्रयोग हुआ है, परन्तु ऐसे प्रसङ्गों में प्राय: रसाभिव्यंजना के स्थान पर कलात्मकता का प्रयोग अधिक दिखता है। उनसे जो चमत्कार उत्पन्न होता है वह रसानुभूति के स्थान पर हृदय में एक गुदगुदाहट उत्पन्न करता है, मन पर प्रभाव छोड़ता है और मस्तिष्क को उसका विषय प्रदान करता है। अत: यह काव्य का अलङ्करण तो करता ही है और इसीलिए यह "अलङ्कार" संज्ञा से अभिहित होता है। इस प्रकार वामन के "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" एवं "सौन्दर्य-मलङ्कार:" इन सूत्रों के अनुसार वह अलङ्कार सौन्दर्य का ही पर्याय है और उस अलङ्कारता के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है। विरोधमूलक अलङ्कार भी इसी सौन्दर्याधान के कारण अलङ्कार हैं, अर्थों की विविध विच्छित्तियाँ देने के कारण उनमें हृदयावर्जकता है। इसीलिए ये अलङ्कारशास्त्र में निरूपित किये गये हैं और इसी क्रम में इस प्रबन्ध में इनका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रमुख-सहायक-ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ का नाम	लेखक/प्रकाशक
1. अलङ्कारसर्वस्वम्	- रूय्यक
2. औचित्यविचारचर्चा	- क्षेमेन्द्र/काव्यमाला सीरीज़, बम्बई
3. काव्यप्रकाश	- मम्मट
4. काव्यालङ्कार	- रूद्रट/वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली 1965
5. काव्यालङ्कार	- भामह, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना
6. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः	- वामन/चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी 1977
7. कादम्बरी कथामुखम्	- बाणभट्ट
8. काव्यादर्श	- दण्डी/मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली 1973
9. काव्यालङ्कारकारिका	
10. काव्यांग प्रक्रिया	
11. कुवलयानन्द	

12• चन्द्रालोक - जयदेव

13• ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धन

14• नाट्यशास्त्रम् - भरतमुनि

15• रसगङ्गाधर - पण्डितराज श्री जगन्नाथ/ चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1987

16• वक्रोक्तिजीवितम् - कुन्तक/विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1987

17• शिशुपालवधम् - माघ/चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी 1972

18• संस्कृत अलङ्कार शास्त्र का समन्वित-इतिहास - अनिरुद्ध जोशी/अजन्ता

19• संस्कृत-साहित्य में शब्दालङ्कार - डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

20• साहित्यदर्पण - विश्वनाथ

21• साहित्य सुधासिन्धु - विश्वनाथ देव/भारतीय विद्याप्रकाशन 1978